कथा किरण

कथा-किरण

सम्पादक

डॉ० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

सांची प्रकाशन

बाल विहार, हमीदिया रोड, भोपाल

मूल्य तीन रुपये मात्र

सांची प्रकाशन, बाल विहार, हमीदिया रोड, भोपाल द्वारा प्रकाशित
तथा मॉडर्न प्रिंटर्स, बागमुजफ्फर खाँ, आगरा–२ द्वारा मुद्रित

दो शब्द

प्रस्तुत संकलन स्नातकीय छात्रों की दृष्टि से तैयार किया गया है । कहानी के क्षेत्र में हिन्दी की प्रगति का सम्पूर्ण लेखा देना इतनी छोटी पुस्तिका का उद्देश्य नहीं हो सकता, परन्तु यह ध्यान रक्खा गया है कि प्रसाद-प्रेमचन्द युग से लेकर अधुनातन प्रवृत्तियों का यथाशक्य समावेश हो जाय, जिससे विद्यार्थी का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर कहानी-कला के विकास के परिवेश में उपचित हो सके । इसी प्रयोजन से इसमें अभिनव कहानीकारों को अपेक्षित स्थान दिया गया है । नयी कहानी की मुख्य प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन 'पीठिका' में कर दिया गया है और नयी कहानियाँ भी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली ही चुनी गयी हैं ।

कहानीकारों की संख्या इतनी बड़ी है कि प्रतिनिधि कहानीकारों का भी इसमें समावेश सर्वात्मना असम्भव था । अतएव छात्रों की दृष्टि से उपयोगी कहानियों का चयन कर लिया गया है । परम्परागत विकास का ध्यान रखते हुए उन्हें क्रमबद्ध किया गया है ।

संग्रह का मुख्य उद्देश्य कहानी की धारा का संक्षिप्त परिचय देना है । अतएव अन्त में संगृहीत कहानियों पर परिचयात्मक टिप्पणियाँ जोड़ दी गयी हैं जिससे छात्रों को प्रवृत्तिमूलक अध्ययन करने तथा कहानी एवं कहानीकार को समझने में सहायता मिल सके । सस्ती बाजारू कुञ्जियों से बचने हेतु भी यह प्रयास माना जा सकता है जो अध्येता के उपयोग एवं बुद्धि-विकास की दृष्टि से आवश्यक माना गया है ।

—सम्पादक

अनुक्रम

पीठिका

मनुष्य स्वयं एक कथा है। वह संसार में अब तक की खोजों के अनुसार सर्वोत्कृष्ट जीव है जो बुद्धि की शक्ति से प्रकृति पर विजय कर सका है। उस मनुष्य के सुख-दुःख, आशा-निराशा, विश्वास-अविश्वास, तर्क-वितर्क आदि की कथा ही सदा से मनुष्य का मनोरंजन करती रही है। दूसरे शब्दों में, कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी ही कहानी पर स्वयं ही चकित होता रहता है, अतएव उसे कहानी में आनन्द आता है। यही कारण है कि देश-विदेश के धार्मिक प्रचारों में कथाओं का बड़ा हाथ रहा है। कुरान में अनेक मनोरंजक कहानियों के तत्त्व विद्यमान हैं। बाइबिल कथा-शैली में लिखा हुआ धर्म-ग्रंथ है। जैनों और बौद्धों का अधिकतर साहित्य कथाओं से भरा पड़ा है। हिन्दू धर्म-ग्रंथों में पुराण-कथाओं के संकलन हैं, जिनके माध्यम से धर्म, दर्शन, कला, नीति, भूगोल आदि का सांस्कृतिक प्रसार किया जाता रहा है।

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य

भारत का प्राचीन वैदिक साहित्य भी कथाओं के संकेत देता है। देवों-असुरों के युद्ध की कथा ऋग्वेद में भी पायी जाती है। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की कथाएँ आज भी उच्चकोटि की मानी जाती हैं। पुराणों में उत्तम कथाओं द्वारा धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। साहित्यिक कथाओं का आरम्भ लोक-कथाओं से हुआ है। सर्वप्रथम पालि-भाषा में बौद्ध जातक कथाएँ आती हैं जिनकी रचना लोक-कथाओं को आधार मान कर हुई है। बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु ये कथाएँ लोकजीवन से ही ली गयीं और धार्मिक उपदेशों से भर कर प्रसारित की गयीं। ईसवी पूर्व शतियों में ही ये कथाएँ बन चुकी थीं। इनका साहित्यिक महत्त्व आज भी न्यून नहीं हुआ है। लोक-कथाओं में पशु-पक्षियों की कथाएँ बड़े महत्त्व की हैं जिनका संग्रह पंचतंत्र तथा हितोपदेश जैसे संस्कृत-ग्रंथों में मिलता है—इन पुस्तकों की कथाओं का प्राचीनकाल में अरबी में अनुवाद हुआ और अरब से ये कथाएँ यूनान पहुँचीं। कहा जाता है कि यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन कथाकार ईसप पंचतंत्र से प्रभावित था। ईसप की कथाएँ पंचतंत्र की कथाओं की अपेक्षा कम महत्त्व की हैं। पशु-पक्षियों के चरित्र के माध्यम से

मानव-नीति का उपदेश इन कहानियों का लक्ष्य था । प्राकृत में जैनों की कथाएँ भरी पड़ी हैं जो अब प्रकाशित हो रही हैं। वृहत्कथा और कथासरित्सागर जैसे कथा-ग्रंथ संस्कृत-साहित्य में इतने महत्त्व के हैं कि विश्व को चकित करने की शक्ति रखते हैं। दण्डी का दशकुमार-चरित, सुबन्धु की वासवदत्ता, बाणभट्ट की कादम्बरी की कीर्ति देश-विदेश सर्वत्र है ।

इन प्राचीन कथाओं के दो मुख्य उद्देश्य रहते थे :

(१) धार्मिक तथा नैतिक उपदेश देकर जनता का चरित्र-निर्माण करना प्रथम उद्देश्य था । इस दृष्टि से जातक-ग्रंथों, जैन-कथाओं तथा पौराणिक कथाओं का बड़ा महत्त्व है । पंचतंत्र भी ऐसा ही कथा-ग्रंथ है ।

(२) मनोरंजन दूसरा उद्देश्य था । लोक-कथाओं में मनोरंजन का महत्त्व सर्वोपरि रहा है । कथासरित्सागर की कथाएँ भी प्रायः ऐसी ही हैं ।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथाओं में चमत्कार लाना आवश्यक रहता था । देवी-देवताओं, दैत्यों, पिशाचों आदि की कल्पना द्वारा चमत्कार बढ़ाया जाता था। राजकुमारों तथा राजकुमारियों की प्रेम एवं साहस की कथाएँ भी चमत्कार पैदा करती थीं जिनसे मनोरंजन होता था ।

आधुनिक कहानी

कहानी का आधुनिक रूप प्राचीन कथाओं के रूप से भिन्न है । कथानक में समान होते हुए भी दोनों के उद्देश्य और गठन भिन्न हैं। आज की कहानी भारत में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से चलन में आयी है—विशेषतः अंग्रेजी कहानी का बड़ा प्रभाव है । आधुनिक कहानी की तुलना पुरानी कहानी से करें तो आधुनिक कहानी की विशेषताएँ सामने आ जायँगी :

(१) प्राचीन कहानी का एक उद्देश्य मनोरंजन था। पाठक या श्रोता को मनबहलाव देने में ही कहानी की सार्थकता थी । दादी की कहानियों में परियों और राजकुमारों के कथानक ऐसे ही हैं जो हमारा मनोरंजन करते हैं । आधुनिक कहानी केवल मनोरंजन के लिए नहीं लिखी जाती । उसमें जीवन की किसी न किसी समस्या पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किया जाता है । हमारे आसपास के समाज के ही पात्र होते हैं जिनके दुःख-सुख को हम अपना ही दुःख-सुख मान कर कहानी पढ़ते हैं और इस प्रकार कहानी हमारे सामने हमारा

ही सामाजिक जीवन-चित्र देती चलती है। उसमें मनोरंजन गौण रहा करता है; प्रधानता मानव-जीवन की किसी समस्या की रहती है।

(२) प्राचीन कहानियों में जो धार्मिक कथाएँ आती हैं उनका मुख्य उद्देश्य धार्मिक उपदेश रहता है। ये कथाएँ मनोरंजन भी कराती हैं परन्तु धर्म की शिक्षा प्रधान रहती है। बौद्धों के 'जातक' ऐसे ही हैं जो लोक-कथाओं द्वारा धर्म का उपदेश देते हैं। पुराणों की कथाएँ भी धार्मिक उपदेश के लिए लिखी गयी थीं। यही बात जैनों के चरित-साहित्य के लिए भी सत्य है। वे भी जैन धर्म की शिक्षा हेतु लिखी गयी थीं। आज की कहानी धार्मिक उपदेश को लक्ष्य बना कर नहीं लिखी जाती, वह तो हमारे जीवन की यथार्थ समस्या सामने रखकर जीवन को उत्तम बनाने की दिशा में हमें प्रोत्साहित करती है।

(३) प्राचीन कथाओं में अस्वाभाविक तत्त्व अनिवार्य रूप से रहा करते थे। भूत, प्रेत, पिशाच, पशु-पक्षी, देव-दानव, परी आदि का समावेश यथार्थ की सीमा से परे था। घटनाओं की अस्वाभाविकता बालकों का मनोरंजन तो करती थी परन्तु बड़े होकर वे संदेह करने लगते थे। आधुनिक कहानी मूलतः मानव-जीवन के यथार्थ प्रसंगों के चित्र लेती है जिनमें अस्वाभाविक बातों की आवश्यकता नहीं रहती।

प्राचीन कथाएँ कच्ची बुद्धि के बालक आदि का मनोरंजन करती थीं जबकि आज की कथाएँ परिपक्व मस्तिष्क के शिक्षित जनों को सोचने-विचारने और जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने को प्रेरित करती हैं।

(४) प्राचीन कथाओं के नायक अधिकतर राजा या राजकुमार या ऐसे ही ऊँचे वर्ग के पात्र होते थे परन्तु आधुनिक कहानी ने इस दिशा में बड़ी क्रांति की है। इसके प्रधान पात्र हमारे समाज के साधारण या असाधारण सभी होते हैं। मनुष्य के समानाधिकार का यह प्रभाव लेकर आधुनिक कहानी पुरानी कहानी से भिन्न हो जाती है।

(५) प्राचीन कहानियों में विस्तार प्रायः अधिक रहता था। काम से अवकाश पाकर बैठे हुए लोगों का मनोविनोद करने के लिए व्यर्थ की बातें भी जुड़ी रहती थीं। आधुनिक कहानी के पाठक के पास समय की बड़ी कमी हो गयी है। उसे एक घटना भर पढ़कर एक प्रभाव ग्रहण करने का ही समय है क्योंकि विविध दिशाओं से काम का दबाव पड़ता है जिससे मनुष्य के मनोरंजन का समय संकुचित हो गया है।

कहानी की परिभाषा

कहानी कथा-साहित्य की वह विधा है जिसमें मानव या मानवीकृत-प्रतीक चरित्रों द्वारा जीवन की कोई एक महत्त्वपूर्ण घटना, जो एक अनुभूत्यात्मक प्रभाव डाल सके, चित्रित की जाती है जिससे मनोरंजन के साथ जीवन की यथार्थ समस्या की दिशा में पाठक का ध्यान आकृष्ट किया जा सके।

हिन्दी कहानी का संक्षिप्त इतिहास

यों तो १८५६ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की कहानी 'राजा भोज का सपना' आ गयी थी और उससे बहुत पूर्व १८०७ ई० में सैयद इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' प्रकाश में आयी परन्तु इन्हें आधुनिक कहानी मानना कठिन है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १८५८ ई० में 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' शीर्षक से कहानी लिखी परन्तु वह भी हिन्दी-साहित्य के परिवेश में आज कहानी कहलाने योग्य नहीं मानी जाती। इसके अनन्तर अधिकतर हिन्दी कहानियाँ बँगला कहानियों के अनुवाद रूप में आती रहीं अथवा जासूसी कहानियों की भरमार रही। यह स्थिति पूरी १९वीं शताब्दी में व्याप्त रही। १९०० ई० में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ आधुनिक हिन्दी कहानी प्रकाश में आयी। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रथम प्रकाशित साहित्यिक हिन्दी कहानी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक से कहानी लिखी जो १९०३ ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुई। विद्वानों की दृष्टि में बंग-महिला की 'दुलाई वाली' कहानी मौलिक एवं साहित्यिक कहानी थी जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुई।

१९०९ ई० में प्रसाद जी ने 'इन्दु' पत्रिका की स्थापना की और उसमें मौलिक कहानियाँ छपने लगीं। इसी के समनन्तर सुदर्शन, प्रेमचन्द, कौशिक, गुलेरी जैसे प्रतिभाशाली कथाकार सामने आये जिनमें श्री जयशंकर प्रसाद का नाम भी अमर है। १९२८ ई० के आसपास तक उक्त कथाकारों तथा उनके सहवर्ती अन्य लेखकों ने कहानी शैली का विकास किया।

१९२८ ई० के बाद हिन्दी कहानी का द्वितीय उत्थान युग आता है जिसमें विविध पत्र-पत्रिकाओं ने कहानियों का प्रकाशन आरम्भ किया। इस युग में उक्त लेखकों के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, भगवतीचरण

वर्मा, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे कथाकार प्रकाश में आये। स्त्री-लेखिकाओं में उषादेवी मित्रा, होमवती देवी, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, सत्यवती मल्लिक के नाम उल्लेखनीय हैं। इस काल में यशपाल जैसे साम्यवाद कथाकारों ने कहानी क्षेत्र को समृद्ध किया।

१९४० ई० से लेकर स्वतन्त्रताप्राप्ति तक का समय संक्रमणकाल कहा जा सकता है। उसके अनन्तर नयी कहानी का शुभारम्भ हो चलता है। मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, रेणु जैसे कथाकारों ने कहानी को अधिक गम्भीरता से लिया और समृद्ध किया है।

कहानी-रचना के तत्त्व

कहानीकार कहानी की रचना में किन तत्त्वों का उपयोग करता है, यह जानकर ही कहानी की उचित समीक्षा की जा सकती है। कहानी का मूल्यांकन करते समय उनके इन्हीं तत्त्वों की सफलता या विफलता का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है। वे तत्त्व हैं—(१) कथावस्तु, (२) संवाद, (३) चरित्र-चित्रण, (४) भाषा, (५) शैली और (६) उद्देश्य। इनका क्रमिक विवेचन अपेक्षित है।

(१) कथावस्तु

कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य उसके उद्देश्य में निहित रहता है परन्तु उद्देश्य का समुचित निर्वाह एवं सरस प्रतिपादन कथानक के माध्यम से ही किया जाता है। कथानक के अभाव में 'कहानी' का नाम ही सार्थक नहीं हो पाता। कथानक का चुनाव उन्हीं परिस्थितियों एवं देश-काल में किया जाता है जिनसे उद्देश्य का मार्मिक निरूपण हो सके। सभी उद्देश्यों के लिए सभी कथानक उपयुक्त नहीं हो सकते, उदाहरणार्थं, 'छोटा जादूगर' और 'पूस की रात' कहानियों को ले सकते हैं। 'छोटा जादूगर' का उद्देश्य है कि 'निर्धनता में किस प्रकार बालक भी चतुर हो जाते हैं और पैसे के लिए दूसरों को कैसे आकृष्ट कर लेते हैं'; तो 'पूस की रात' का उद्देश्य 'किसानों का खेती पर से विश्वास हटना और अंग्रेजी शासन में देश की दुर्दशा पर प्रकाश डालना' है। अतः दोनों के कथानक भिन्न ही होने चाहिए।

उद्देश्य के अनुसार ही कथानक के विभाग किये जाते हैं। कथानक का उतना ही अंश कहानी में ग्रहण किया जाता है जितने से सरसता बनी रहे, विस्मय या कौतूहल की निरन्तरता हो और उद्देश्य तक पहुँचने में सहायता मिले। शेष कथांश का परित्याग कर दिया जाता है; उसे केवल सूचित कर दिया जाता है अथवा पाठक के अनुमान पर छोड़ दिया जाता है।

घटना तत्त्व कथानक का प्राण है। जिज्ञासा एवं कौतूहल घटना पर ही टिका होता है, अतः कथानक की महत्त्वपूर्ण घटना को कहानी में बड़ी तत्परता से संघटित किया जाना चाहिए। घटना चाहे बहुत आकर्षक न हो परन्तु उसे इस प्रकार लाया जाय कि मानव-संवेदना जगाने में सफल हो—इसी को सरसता कहते हैं। 'पूस की रात' कहानी में घटना अत्यन्त शिथिल है परन्तु शीत का प्रभाव 'जबरा' की सहायता से इस प्रकार चित्रित हुआ है कि 'हल्कू' अपनी दयनीयता में पूरे कृषक-समुदाय के प्रति पाठक की करुणा को सजग करने में समर्थ है।

कहानी में केवल एक शक्तिशाली संवेदन व्यक्त किया जाता है, अतः कथानक लम्बा न होना चाहिए, अन्यथा कहानी उपन्यास का आकार लेने लगती है और थोड़े में समेटने पर कहानी दुर्बोध हो उठती है। इस संग्रह में संकलित 'मेरा बेटा' कहानी में बाबा से पोते तक, हिन्दू से मुसलमान होकर ८०-९० वर्ष की अवस्था बिताने तक का कथानक फैला पड़ा हुआ है जबकि कहानी में केवल ६ घण्टे की घटना ही आयी है जिससे पूरी दास्तान प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि पूरी कथा समेटी जाय तो एक उपन्यास की आवश्यकता है। किन परिस्थितियों में अनवर के पिता मुसलमान बने? रामप्रसाद के प्रति अनवर की घृणा मजहबी थी या और कुछ? इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान नहीं हो पाता।

कहानी में नाटकीयता का गुण अनिवार्य है। कथानक को इस क्रम से घटित किया जाय कि अन्त में ही उसका उद्देश्य या फल स्पष्ट हो, जैसा नाटक में होता है। एतदर्थ घटना-क्रम में परिवर्तन भी कर लिया जाता है। पहले की प्रभावशाली घटना की सूचना बाद में देकर प्रभाव बढ़ाया जाता है। इस दृष्टि से 'मेरा बेटा' कहानी अत्युत्तम है। रामप्रसाद अनवर का भाई है, इस रहस्य का पता अन्त में ही मिलता है जबकि घटना पहले की है, इसी से नाटकीयता की रक्षा हुई है। 'पूस की रात' में संवेदन की तीव्रता होने से नाटकीयता की अपेक्षा नहीं रहती—यों, हल्कू की पात्रगत दशा अपने आप में नाटकीय बन पड़ी

है। कहानी को नाटकीय बनाने के लिए पूरे कथानक को पाँच भागों में बाँटा जाता है, जैसा कि नाटकों में होता है :

(१) **आरम्भ**—कथानक का आरम्भ आकर्षक होना चाहिए। आरम्भ कई प्रकार से किया जाता है—(१) वातावरण-चित्रण से—जैसे, 'दो बाँके' कहानी में लखनऊ के वातावरण का नवाबी चित्र आरम्भ में दिया गया है। (२) पात्र के परिचय से—जैसे, 'दरार भरने की दरार' में 'श्रुति दी' और 'नन्दिका' की अवतारणा की गयी है। (३) आकर्षक एवं दूरगामी प्रभाव वाली घटना से—जैसे, 'पूस की रात' में 'सहना' का आना और उसे रुपये देना ही आगे शीत का प्रभाव गहन बनाते हैं। (४) कहानी कहने वाले गौण पर आकर्षक पात्र से—जैसे, 'छोटा जादूगर' में 'मैं' से कथा आरम्भ होती है।

'आरम्भ' में कहानी के 'उद्देश्य' के 'बीज' की अवतारणा कर ली जाती है पर उसका रहस्य छिपा रहता है, तभी जिज्ञासा बनी रहती है। इस दृष्टि से 'दरार भरने की दरार' कहानी बहुत उत्तम है जिसमें पति-पत्नी के मतभेद को बड़ी सफलता से अन्त तक निभाया गया है। अन्य कहानियों में भी ऐसा ही होता है। इस तथ्य की उपेक्षा कर देने से कहानी नीरस हो जाती है।

आरम्भ को भारतीय नाट्यशास्त्र में 'आरम्भ' नामक 'कार्यावस्था' और 'मुख' नामक 'संधि' कहा जाता है जिसमें 'फल' (उद्देश्य) का 'बीज' निहित रहता है।

(२) **आरोह**—आरोह का तात्पर्य कथानक के चढ़ाव से है। इस अवस्था में कथानक आगे बढ़ता हुआ उद्देश्य (फल) की ओर अग्रसर होता है। घटना अथवा पात्रगत भावना का संघर्ष इसमें 'आरम्भ' की अपेक्षा बढ़ाकर प्रस्तुत करते है। 'छोटा जादूगर' को देखें तो दूसरी बार उसका लेखक से मिलना और तमाशा दिखाना 'आरोह' की अवस्था है जो हमारी जिज्ञासा को आगे बढ़ाती है और हमें उससे शक्तिशाली घटना के लिए तैयार करती है। जैसे, हम पर्वत पर चढ़ रहे हों, चढ़ाई आरम्भ करके इतनी दूर और चढ़ गये हों कि चोटी तक पहुँचने का आनन्द लेने को तत्पर हो उठे हों—अब हम पीछे लौटना या कहानी को छोड़ना न चाहेंगे, 'आगे क्या होगा' की जिज्ञासा बलवती हो उठेगी।

भारतीय नाट्यकला में इसे 'यत्न' नामक 'कार्यावस्था' और 'प्रतिमुख' नामक 'संधि' कहा जाता है जिसमें तेल की 'बिन्दु' के समान आरम्भ का बीज प्रसार लेता है।

(३) **चरम-स्थिति**—इसे अंग्रेजी में 'क्लाइमैक्स' कहा जाता है। कहानी का यही मेरुदण्ड है। यहाँ आकर कथानक अपनी घटना को उच्चतम शिखर पर पहुँचाता है। बहुत-सी कहानियाँ यहीं लाकर समाप्त कर दी जाती हैं, शेष अंश पाठक के अनुमान पर छोड़ दिया जाता है। 'दो बाँके' कहानी में जब दोनों बाँके लाशें बिछ जाने की बात करते हैं तो लगता है कि अब घनघोर लड़ाई होने ही जा रही है। यहाँ कहानी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना या बात लायी जाती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यह 'प्राप्त्याशा' नाम की 'कार्यावस्था' और 'गर्भ' नाम की 'संधि' है जिसमें यह निर्णय नहीं हो पाता कि पक्ष या विपक्ष में से फल किस ओर जायगा—एक संदिग्ध दशा रहती है।

(४) **अवरोह**—इस अवस्था में कहानी उतार की ओर चलती है। उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है, केवल उसकी उपलब्धि शेष रहती है। संघर्ष या द्वंद्व का अन्त निकट हो जाता है। 'दो बाँके' में दोनों शोहदे जब हाथ मिलाते हैं और परस्पर प्रशंसा करते हैं तो स्पष्ट होने लगता है कि लड़ाई का सारा तामझाम और आडम्बर बकवास भर था, बाँकों की बातें थोथी और कायरता का आवरणमात्र थीं।

भारतीय नाट्यशास्त्र में इसे 'नियताप्ति' (निश्चित फल-प्राप्ति या फल-प्राप्ति का निश्चय) नामक 'कार्यावस्था' और 'अवमर्श' नामक 'संधि' कहते हैं जिसमें उद्देश्य स्पष्ट रूप से चलता है। अनिश्चय समाप्त हो जाता है।

(५) **अन्त**—कथानक का यहाँ अवसान हो जाता है। जिस उद्देश्य के लिए कहानी की रचना की जाती है, वह यहाँ निभ जाता है। 'दो बाँके' का फल ही यह है कि लखनौआ शोहदों की बड़ी-बड़ी बातों में छिपी कायरता चित्रित की जाय और यह उद्देश्य तब स्पष्ट हो जाता है जब दोनों बाँके अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र बाँटने की बात करके लड़ाई से विरत होते हैं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं, यहाँ तक कि देहाती लट्ठैत के उकसाने पर भी किसी शोहदे का साहस उससे भिड़ने का नहीं होता।

भारतीय नाट्यशास्त्र इसे 'फलागम' नाम की 'कार्यावस्था' और 'निर्वहण' नाम की 'संधि' कहता है। इसी में पूरे कथानक का फल उपलब्ध होता है और कहानी का 'निर्वहण' या उपसंहार हो जाता है।

(२) संवाद या कथनोपकथन

कुछ कहानियाँ कथानक में दुर्बल भी होती हैं पर संवादों की मधुरता हमें आकृष्ट कर लेती है। पात्रों के संवाद जहाँ एक ओर उनके चरित्र का यथार्थ परिचय देते हैं। वहाँ घटनाक्रम में सहायक होकर कथानक को गति देते हैं। संवादों की सरसता पर ही कहानी की सरसता और पाठक का कौतूहल अवलम्बित होते हैं। 'दो बाँके' कहानी के संवाद ही हास्य रस की सृष्टि करते हैं, अन्यथा कहानी में कोई बड़ा आकर्षण नहीं है। शोहदई की पराकाष्ठा का पूरा भार कहानी के कथनोपकथन ही सँभाले हुए हैं। संवादों में इतना गर्जन है कि वृष्टि की सम्भावना स्वतः निरस्त हो जाती है। 'छोटा जादूगर' कहानी में नायक के संवाद उसके मातृप्रेम, देशप्रेम, कर्तव्य-निष्ठा, कर्मशीलता आदि के परिचायक हैं।

कुछ कहानियों में संवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती। 'पूस की रात' ऐसी ही कहानी है जिसका कथानक इतिहास-शैली की सफलता में ही सफल रहा है। 'रहीम चाचा' कहानी भी संवादों की दृष्टि से महत्त्व न रखने वाली कहानी है, पर चरित्र-निर्माण के माध्यम से ही उद्देश्य-पूर्ति हो जाती है और कहानीकार ने ही अपनी ओर से सब कुछ कह लिया है।

(३) चरित्र-चित्रण

कहानी में कथानक कितना भी संक्षिप्त हो, संवाद अल्प हों परन्तु उद्देश्य तक पहुँचने के लिए पात्र की योजना अवश्य रहेगी। पात्र का शील-स्वभाव, उसका आचरण, विविध परिस्थितियों में उसकी प्रतिक्रिया, उसके जीवन का महत्त्व आदि चरित्र-चित्रण द्वारा निरूपित होते हैं। कहना चाहिए, उक्त सभी बातें, जो पात्र का आन्तरिक परिचय देकर हमारी अनुकूल या प्रतिकूल संवेदनाओं का कारण बनती हैं, पात्र का चरित्र कही जाती हैं। चरित्र-चित्रण संक्षेप में पात्र के स्वभाव का विवरणमात्र है जो कहानी भर में छाया रहता है। 'रहीम चाचा' की दीनता, परिस्थिति-जन्य विवशता और समाज द्वारा की हुई उपेक्षा, सबका चित्रण जो कहानी में हुआ है, चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत आयेगा और इसी से इस उद्देश्य की सिद्धि होती है कि समाज व्यक्ति के जीवन के प्रति कितना निर्दय होता है। 'छोटा जादूगर' का चरित्र ही लेखक ने इस प्रकार चित्रित किया है कि समाज की अव्यवस्था का हम पर प्रभाव

पड़े बिना रहीं रहता और यह प्रभाव संवेदनात्मक होता है। 'मेरा बेटा' में डा० हसन का चरित्र स्वतन्त्र भारत के युवक की गरिमा का उद्घाटन करता है। 'पूस की रात' में हल्कू का चरित्र ही हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि कृषक अपनी दुर्दशा में निराश होकर देश की रीढ़ को कमजोर करता जा रहा है जिसका कारण जमींदारी और महाजनी प्रथाएँ हैं। हरिशंकर परसाई की कहानी 'बैताल की अट्ठाईसवीं कथा में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार पर व्यंग है। 'दो बाँके' में शोहदों का चरित्र ही तो उभारा गया है।

सारांश यह है कि कहानी में चरित्र-चित्रण की मात्रा अवश्य रहती है। कुछ कहानियाँ चरित्र-प्रधान होती हैं—जैसे, 'छोटा जादूगर' आदि, कुछ में घटना की प्रधानता होती है। इनमें चरित्र-प्रधान कहानी ही श्रेष्ठ है। कौशिक की 'ताई' कहानी में घटना का महत्त्व है जो चरित्र को मोड़ देती है। उन्हीं की 'रक्षाबंधन' कहानी कोरी घटना-प्रधान है, अतः जीवन का महत्त्वपूर्ण चित्र देने में असफल है। 'उसने कहा था' कहानी को जो ख्याति मिली है वह लहनासिंह के उदात्त चरित्र के ही कारण।

चरित्र तीन प्रकार के हो सकते हैं—(१) यथार्थ चरित्र, जैसे—रहीम चाचा; (२) आदर्श चरित्र, जैसे—'छोटा जादूगर'; (३) आदर्शोन्मुख यथार्थ चरित्र, जैसे—'ताई'। नयी कहानी में चरित्रों की यथार्थता पर ही बल दिया जाता है जिससे समाज की कटुता का रहस्य उद्घाटित होता है।

(४) भाषा

कहानी की भाषा वैसी ही होनी चाहिए, जैसा पात्र हो। इस दृष्टि से 'पूस की रात' कहानी अथवा 'रहीम चाचा' श्रेष्ठ हैं। उनमें पात्रों के स्वरूप के अनुसार ही भाषा का गठन किया गया है। हल्कू किसान है तो उसकी भाषा सीधी-सादी गाँव की-सी भाषा है। रहीम मुसलमान है तो उसकी भाषा में उर्दू के शब्दों का आना ही उचित है। 'छोटा जादूगर' कहानी शहरी वातावरण की है; अतः उसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। लखनऊ का वातावरण प्रस्तुत करने वाली 'दो बाँके' कहानी में उर्दू का समावेश ही उचित है। कहानी का यही सिद्धान्त है कि पात्र के अनुरूप भाषा हो। किसी विद्वान से गँवारी भाषा नहीं बुलवायी जानी चाहिए और न ही किसी गँवार से पण्डितों की-सी भाषा कहलानी चाहिए। यही उचित है।

आंचलिक—कहानियाँ अवश्य हिन्दी में एक समस्या खड़ी करती हैं। 'अंचल' का अर्थ कोई छोटा भूभाग है। उसी छोटे गाँव या छोटे-छोटे गाँवों की बोली का समावेश यथार्थ तो है परन्तु ऐसी भाषा उन्हीं पाठकों को आकृष्ट कर पाती है जो आंचलिक भाषा से परिचित होते हैं; शेष पाठक उसमें रुचि नहीं ले पाते। फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानियाँ आंचलिक होती हैं। उनमें भोजपुरी का इस सीमा तक समावेश होता है कि उसे हिन्दी-व्याकरण से भिन्न भाषा मानना पड़ता है। देशी शब्दों—आंचलिक मुहावरों का—समावेश भावात्मक एकता तथा सांस्कृतिक परिचय हेतु आवश्यक है परन्तु उनका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण की रूपरचना के नियमों का उल्लंघन करके न होना चाहिए, जैसा कि 'रेणु' ने किया है। 'रेणु' के सम्पूर्ण कथा-साहित्य की यही दुर्बलता है। इस दृष्टि से मनहर चौहान का उपन्यास 'हिरना साँवरी' उत्तम कहा जा सकता है। चौहान ने अपने पात्रों के मुँह से छत्तीसगढ़ी शब्दों का प्रयोग कराया है परन्तु हिन्दी व्याकरण का उल्लंघन नहीं किया है।

(५) शैली

शैली लेखक के व्यक्तित्व का परिचय देती है। वह वैसे ही शब्दों, मुहावरों, अलंकारों अथवा लोकोक्तियों का प्रयोग करता है जैसा कि उसका शील (स्वभाव) होता है। शीलगत होने के कारण ही उसका नाम 'शैली' पड़ा है। परन्तु कहानी के सन्दर्भ में शैली पर विचार करते समय देखना होता है कि उसकी रचना किस गठन से की गयी है। सीधे-सीधे इतिहास या जीवनी के समान कथा कही गयी है, लेखक ने अपनी बीती के रूप में कही है अथवा पत्र या डायरी के जामे में कथा की अवतारणा की है। इस प्रकार कहानी की चार प्रचलित शैलियाँ हैं :

(१) **इतिहास-शैली**—इसी शैली में अधिकतर कहानियाँ लिखी जाती हैं। इसमें कथानक को इस प्रकार रखा जाता है, जैसे कोई इतिवृत्त कहा जा रहा हो। 'रहीम चाचा' या 'पूस की रात' इसी शैली के उदाहरण हैं।

(२) **आत्मकथा-शैली**—लेखक जब आपबीती या अपनी ही अनुभूत घटना के रूप में 'मैं' शब्द का व्यापक प्रयोग करते हुए कथा आगे बढ़ाता है तो वह आत्मकथा शैली कही जाती है। इसमें लेखक अपने को भी अन्य पात्रों में से एक पात्र बना लेता है और इस प्रकार कहानी कहता है, जैसे उसकी

देखी हुई बातें ही कहानी में निहित की गयी हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि लेखक ने वस्तुत: आपबीती बात कही हो—वह तो अपने को भी कल्पित पात्र बना लेता है। 'दो बाँके', 'छोटा जादूगर' ऐसी ही कहानियाँ हैं। यह शैली इतिहास शैली के समान समर्थ नहीं है।

(३) **पत्र-शैली**—जब पत्रों के माध्यम से कथा गूँथी जाती है तो आत्म-कथा शैली के समान ही यह शैली रूप लेती है। इसमें बहुत कम कहानियाँ बनी हैं।

(४) **डायरी-शैली**—दिनांक देकर डायरी-लेखन के रूप में एक ही पात्र की स्थिति द्वारा कहानी का चित्रण इस शैली में होता है। यह तो सबसे कम प्रयुक्त शैली है।

प्रथम दो शैलियाँ ही व्यापक रूप से प्रचलित हैं।

(६) उद्देश्य

कहानी का उद्देश्य ही उसका प्राण-तत्त्व होता है जिसके आधार पर कहानी का प्रतिपाद्य निश्चित होता है। सफल कहानी में उद्देश्य स्पष्ट रहता है। चरित्र का आदर्श, प्रेम की गम्भीरता, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण, सामाजिक समस्या, मनोग्रंथि, राजनीतिक अव्यवस्था, आर्थिक दुरवस्था आदि क्षेत्रों से उद्देश्य लेकर कहानी का ग्रथन होता है जिसकी व्यंजना ही कहानी का प्रति-पाद्य अथवा मुख्य कथ्य रहता है। उद्देश्य को दृष्टिकोण या जीवनदृष्टि नाम से भी प्राय: कह लेते हैं। कहानी में उद्देश्य के तीन विभाग किये जाते हैं :

(१) **यथार्थवादी उद्देश्य**—ऐसी कहानियाँ जिनका उद्देश्य केवल यथार्थ तथ्य प्रस्तुत करना होता है, समाज की कुरीतियों, आर्थिक विषमताओं, राजनीतिक कुरूपताओं, धार्मिक कुप्रथाओं आदि पर प्रहार करती हैं। उनके चरित्र मानों इन्हीं बुराइयों का उद्‌घाटन करने हेतु रचे होते हैं। नयी कहानी इसी दिशा में सक्रिय है।

(२) **आदर्शवादी उद्देश्य**—ऐसी कहानियाँ अपने चरित्रों द्वारा किसी ऐसे आदर्श की स्थापना करती हैं जिनका समाज में अस्तित्व तो विरल होता है, परन्तु जिनके बिना समाज का संचालन सम्भव नहीं। 'मेरा बेटा' शीर्षक कहानी इसी कोटि की है जो धार्मिक रूढ़ि से ऊपर प्रेम को प्रतिष्ठित करती है।

(३) **आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उद्देश्य**—प्रेमचन्द ने उक्त दोनों मान्यताओं में दोष देखकर इस मत की स्थापना की। कहानी में यथार्थ चित्रण ही होना

चाहिए परन्तु उसका अन्तिम उद्देश्य आदर्श-स्थापना ही है। जीवन जैसा है, उसे वैसा चित्रित कर देना कलाकार का ध्येय न होना चाहिए प्रत्युत जीवन जैसा होना चाहिए, उसका संकेत भी कहानी द्वारा अवश्य दिया जाना चाहिए। 'पूस की रात' कहानी का 'हल्कू' किसानी से ऊब कर मजदूरी की ओर मुड़ता है, इससे उसके विद्रोही होने का संकेत मिलता है जो उस समय का आदर्श ही कहा जायगा।

वस्तुतः प्रत्येक यथार्थवादी कहानी, जो समाज की बुराई प्रस्तुत करती है, समाज को आदर्श की प्रेरणा अवश्य देती है।

संकलन-त्रय

एकांकी और कहानी अपने कथ्य की दृष्टि से समान साहित्यिक विधाएँ हैं। एकांकी अभिनेय है और कहानी पाठ्य। दोनों को संकलन-त्रय की अपेक्षा है। देश, काल और प्रभाव की एकता को संकलन-त्रय कहते हैं। कहानी में तीनों की एकता आवश्यक मानी गयी है। यद्यपि 'उसने कहा था' जैसी प्रसिद्ध कहानी में देशकाल की एकता का अभाव है और वह सफल कलाकृति मानी गयी है, फिर भी सामान्यतया देशकाल की एकता अपेक्षित है। प्रभाव की एकता के अभाव में तो कहानी बन ही नहीं सकती।

नयी कहानी

हिन्दी कहानी के अध्ययन हेतु सम्पूर्ण विकासधारा का सर्वेक्षण तो आवश्यक है ही, यह भी अनिवार्य है कि 'नयी कहानी' के नाम से प्रचलित कहानी की दिशा का भी ज्ञान प्राप्त किया जाय। 'नयी कहानी' का अर्थ यही नहीं है कि उसका लेखक नया है और कथानक नये युग से सम्बन्ध रखता है, प्रत्युत नयी कहानी के लिए जीवन की नयी समस्या की पकड़ अनिवार्य है। स्वतन्त्रता के बाद भारत ने जहाँ मशीनी उन्नति की ओर प्रगति की है वहीं आदमी को बेईमान और दगाबाज भी बनाया है, समाज की पुरानी मान्यताएँ टूट कर बिखर गयी हैं और नये लोकतान्त्रिक समाजवाद की अभी प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है जिससे चारों ओर अव्यवस्था का ही बोलबाला है। इस तथ्य की अनुभूति जितनी ही सजग होगी, कहानी उतनी ही नयी होगी।

नयी कहानी कोरी कल्पना के आधार पर नहीं रची जाती। यही कारण है कि उसमें मिथ्या आदर्शवाद का स्थान नहीं। फिर नया कहानीकार अभी

यथार्थ को भी पूर्णता में नहीं ग्रहण कर पा रहा है क्योंकि बहुतों में कहानी द्वारा प्रदेय का अभाव देखा जाता है। वे कहानी के माध्यम से पाठक तक पहुँच नहीं पाते कि सजग शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधि पाठक उनकी अनुभूति के साथ एक हो सके। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए मार्कण्डेय ने कहा है :

"नये लेखक के पास जीवन के अछूते चित्रों का भण्डार है और यह उसका गुण और दोष दोनों बन रहा है।"

नयी कहानी में कथानक नाम की वस्तु नहीं के बराबर रहती है और चरित्र-चित्रण के प्रति आग्रह नहीं रहता। मनुष्य का जीवन व्यक्तिगत रूप में ही चित्रित करना और व्यक्ति की संवेदनाओं को पाठक की संवेदना में उतारना ही नयी कहानी का लक्ष्य रहता है। उदाहरणार्थ, 'दोने की पत्तियाँ' कहानी को लें। भोला के हृदय में उठने वाली प्रतिक्रियाओं और उसके अन्तर्द्वन्द्वों को समाज के परिवेश में उतारा गया है, अतएव भोला एक व्यक्ति होकर भी शोषित-दलित वर्ग का प्रतिनिधि बन जाता है। परन्तु न तो कथानक की माया रची गयी है और न भोला के चरित्र को आदर्शरूप देने का प्रयास ही किया गया है।

उक्त यथार्थ के कारण नयी कहानी जहाँ एक ओर नवीन भावनाओं का मानचित्र देने में समर्थ है वहाँ दूसरी ओर पाठक का विस्मय उभारने में असमर्थ भी है, अतएव उसे थोड़े से प्रबुद्ध पाठक ही मिल पाते हैं। प्रेमचन्द अथवा सुदर्शन के समान पाठक बनाने में वह असमर्थ है, प्रत्युत बने-बनाये पाठक भी उसे पढ़ना शुरू करके हुसुक जाते हैं। तरुण वर्ग उसमें चाट का-सा चटपटापन खोजता है और निराश होकर विमुख हो जाता है। सच्चाई यह है कि आज के खण्डित जीवन के सामने उसी के चित्र दिये जाते हैं तो एकरसता तथा नीरसता बोझ बनने लगती है। पाठक अपनी ही कुढ़न की तस्वीर कहानी में देखता है तो उसकी मानों निजी कुरूपता उसे ही दिखायी पड़ती है और उस कुरूपता का समाधान नयी कहानी दे नहीं पाती।

इस तथ्य के आधार पर 'मैकू' और 'आया' कहानियों की तुलना करें तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द ने 'मैकू' के चरित्र द्वारा जो पौरुष और ओज प्रस्तुत किया है उसकी छाया भी 'आया' के चरित्र में नहीं है। 'आया' ईमान-दार है पर उसमें या उसके पति में वह शक्ति नहीं जिसकी छबि मैकू में देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं।

नयी कहानी वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय जीवन के संक्रमणकाल की कहानी है। प्रेमचन्द युग राष्ट्र को चरित्र-निर्माण की दिशा में प्रेरित करता था जिसे हम सुदर्शन की 'न्यायमन्त्री' कहानी में देख सकते हैं। वैसा चरित्र-निर्माण नयी कहानी का लक्ष्य नहीं है। वह तो जीवन की उलझनों, विषमताओं, कड़वाहटों और ऊबभरी संवेदनाओं का जमघट है जिससे हम कुछ ग्रहण नहीं कर पाते। हम यह नहीं कहते कि आज के लिए प्रेमचन्द युग की कहानी का महत्त्व है, प्रत्युत कहना तो यह है कि उस कहानी के समान नयी कहानी-निर्माण की ओर दृष्टि नहीं रख पा रही है। वह खण्ड-खण्ड बिखरे जीवन का चित्र देकर स्वयं ही संदेशहीन हो जाती है। वह पाठक से अपेक्षा करती है कि बिखराव को समेटे; वह स्वयं समेटने की बात नहीं उठाती। यहीं नयी कहानी कथ्यहीन-सी लगती है।

फिर भी नयी कहानी से आशाएँ हैं। इसी संक्रमण में से आगे की कहानी जन्म लेगी, जो निश्चय ही इस कहानी से भिन्न होगी और संदेश देने में समर्थ होगी।

१
व्रत-भंग

जयशंकर प्रसाद

तो तुम न मानोगे ?

नहीं, अब हम लोगों के बीच इतनी बड़ी खाई है, जो कदापि नहीं पट सकती ।

इतने दिनों का स्नेह !

उँह ! कुछ भी नहीं । उस दिन की बात आजीवन भुलायी नहीं जा सकती नन्दन ! अब मेरे लिए तुम्हारा और तुम्हारे लिए मेरा कोई अस्तित्व नहीं । यह अतीत के स्मरण स्वप्न हैं, समझे ?

यदि न्याय नहीं कर सकते, तो दया करो मित्र ! हम लोग गुरुकुल में···

हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ, तुम मुझे दरिद्र युवक समझ कर मेरे ऊपर कृपा रखते थे; किन्तु उसमें कितना तीक्ष्ण अपमान था; उसका मुझे अब अनुभव हुआ ।

उस ब्रह्म-वेला में जब उषा का अरुण आलोक भागीरथी की लहरों के साथ तरल होता रहता, हम लोग कितने अनुराग से स्नान करने जाते थे । सच कहना, क्या वैसी मधुरिमा हम लोगों के स्वच्छ हृदयों में न थी ।

रही होगी, पर अब उस मर्मघाती अपमान के बाद मैं खड़ा रह गया, तुम स्वर्ण-स्थल पर चढ़कर चले गये, एक बार भी नहीं पूछा । तुम कदाचित् जानते होगे नन्दन, कि कंगाल के मन में प्रलोभन के प्रति कितना विद्वेष है; क्योंकि वह उससे सदैव छल करता है—ठुकराता है । मैं अपनी उसी बात को दुहराता हूँ कि हम लोगों का अब उस रूप में कोई अस्तित्व नहीं ।

वही सही कपिंजल ! हम लोगों का पूर्व-अस्तित्व कुछ नहीं, तो क्या हम लोग वैसे ही निर्मल होकर एक नवीन मैत्री के लिए हाथ नहीं बढ़ा सकते ? मैं आज प्रार्थी हूँ ।

मैं उस प्रार्थना की उपेक्षा करता हूँ । तुम्हारे पास ऐश्वर्य का दर्प है, तो मेरी अकिंचनता उससे कहीं अधिक गर्व रखती है ।

तुम बहुत कटु हो गये हो इस समय । अच्छा फिर कभी······

न अभी, न फिर कभी । मैं दरिद्रता को भी दिखला दूँगा, कि मैं क्या हूँ । इस पाखण्ड-संसार में भूखा रहूँगा, परन्तु किसी के सामने सिर न झुकाऊँगा । हो सकेगा, तो संसार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए ।

कपिंजल चला गया । नन्दन हतबुद्धि होकर लौट आया । उस रात को उसे नींद नहीं आयी ।

उक्त घटना को बरसों बीत गये । पाटलिपुत्र के धनकुवेर कलश का कुमार नन्दन धीरे-धीरे उस घटना को भूल चला । ऐश्वर्य का मन्दिर-विलास किसे स्थिर रहने देता है ? उसने यौवन के संसार में बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर पदार्पण किया था । नन्दन तब भी मित्र से वंचित होकर जीवन को अधिक मधुर न बना सका ।

× × ×

राधा तू भी कैसी पगली है ? तूने कलश की पुत्र-वधू बनने का निश्चय किया है, आश्चर्य !

हाँ महादेवी, जब गुरुजनों की आज्ञा है, तब तो उसे मानना ही पड़ेगा ।

मैं रोक सकती हूँ । वह मूर्ख नन्दन ! कितना असंगत चुनाव है ! राधा, मुझे दया आती है ।

किसी अन्य प्रकार से गुरुजनों की इच्छा को टाल देना, यह मेरी धारणा के प्रतिकूल है महादेवी ! नन्दन की मूर्खता सरलता का सत्यरूप है । मुझे वह अरुचिकर नहीं । मैं उस निर्मल-हृदय की देख-रेख कर सकूँ, तो यह मेरे मनो-रंजन का ही विषय होगा ।

मगध की महादेवी ने हँसी से कुमारी के इस साहस का अभिनन्दन करते हुए कहा, "तब तेरी जैसी इच्छा, स्वयं भोगेगी ।"

माधवी-कुन्ज से वह विरक्त होकर उठ गयी। उन्हें राधा पर कन्या के समान ही स्नेह था ।

दिन स्थिर हो चुका था। स्वयं मगध-नरेश की उपस्थिति में महाश्रेष्ठि धनंजय की कन्या का ब्याह कलश के पुत्र से हो गया। अद्भुत था वह समारोह ! रत्नों के आभूषण तथा स्वर्णपात्रों के अतिरिक्त मगध सम्राट् ने राधा की प्रिय वस्तु अमूल्य मणि-निर्मित दीपाधार भी दहेज में दे दिया। उस उत्सव की बड़ाई, पान, भोजन, आमोद-प्रमोद का विभवशाली चारु-चयन कुसुमपुर के नागरिकों का बहुत दिन तक गल्प करने का एक प्रधान उपकरण था।

राधा कलश की पुत्र-वधू हुई।

× × ×

राधा के नवीन उपवन के सौध-मन्दिर में अगुरु, कस्तूरी और केशर की चहल-पहल, पुष्प-मालाओं का दोनों सन्ध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में वीणा, वंशी और मृदंग की स्निग्ध गम्भीर ध्वनि बिखरती रहती। नन्दन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिन्द्य सौन्दर्य एकटक चुपचाप देखा करता। उस सुसज्जित प्रकोष्ठ में मणिनिर्मित दीपाधार की यंत्रमयी नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नन्दन और राधा के लिए एक क्रीड़ा और कुतूहल का सृजन करती रहती। नन्दन कभी राधा के खिसकते हुए उत्तरीय को सँभाल देता। राधा हँस कर कहती—

बड़ा कष्ट हुआ।

नन्दन कहता—देखो, तुम अपने प्रसाधन ही में पसीने-पसीने हो जाती हो, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है।

राधा गर्व से मुस्करा देती। कितना अनुराग था उसका अपने सरल पति पर और कितना अभिमान था अपने विश्वास पर ! एक सुखमय स्वप्न चल रहा था।

× × ×

कलश, धन का उपासक सेठ अपनी विभूति के लिए सदैव सशंक रहता। उसे राजकीय संरक्षण तो था ही, दैवी रक्षा से भी अपने को सम्पन्न रखना चाहता था। इस कारण उसे एक नंगे साधु पर अत्यन्त भक्ति थी, जो कुछ ही दिनों से उस नगर के उपकण्ठ में आकर रहने लगा था।

उसने एक दिन कहा—सब लोग दर्शन करने चलेंगे।

उपहार के थाल प्रस्तुत होने लगे। दिव्य रथों पर बैठकर सब साधु-दर्शन के लिए चले। वह भागीरथी-तट का एक कानन था, जहाँ कलश का बनवाया हुआ कुटीर था।

सब लोग अनुचरों के साथ रथ छोड़कर भक्तिपूर्ण हृदय से साधु के समीप पहुँचे। परन्तु राधा ने जब दूर ही से देखा कि वह साधु नग्न है, तो वह रथ की ओर लौट पड़ी। कलश ने उसे बुलाया; पर राधा न आयी। नन्दन कभी राधा को देखता और कभी अपने पिता को। साधु खीलों के समान फूट पड़ा। दाँत किट-किटाकर उसने कहा—यह तुम्हारी पुत्र-वधू कुलक्षणा है कलश ! तुम इसे हटा दो, नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चित है। नन्दन दाँतों तले जीभ दबाकर धीरे से बोला—अरे ! यह कपिंजल···।

अनागत भविष्य के लिए भयभीत कलश क्षुब्ध हो उठा। वह साधु की पूजा करके लौट आया। राधा अपने नवीन उपवन में उतरी।

कलश ने पूछा—तुमने महापुरुष से क्यों ऐसा दुर्विनीत व्यवहार किया ?

नहीं पिताजी ! वह स्वयं दुर्विनीत है। जो स्त्रियों को आते देखकर भी साधारण शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकता, वह धार्मिक महात्मा कदापि नहीं।

क्या कह रही है मूर्ख ! वे एक सिद्ध पुरुष हैं।

सिद्धि यदि इतनी अधर्म है, धर्म यदि इतना निर्लज्ज है, तो वह स्त्रियों के योग्य नहीं पिताजी ! धर्म के रूप में कहीं आप भय की उपासना तो नहीं कर रहे हैं ?

तू सचमुच कुलक्षणा है।

इसे तो अन्तर्यामी भगवान् ही जान सकते हैं। मनुष्य इसके लिए अत्यन्त क्षुद्र है पिताजी ! आप······

उसे रोककर अत्यन्त क्रोध से कलश ने कहा—तुझे इस घर में रखना अलक्ष्मी को बुलाना है। जा मेरे भवन से निकल जा।

नन्दन सुन रहा था काठ के पुतले के समान। वह इस विचार का अन्त हो जाना तो चाहता था; पर क्या करे, यह उसकी समझ में न आया। राधा ने देखा, उसका पति कुछ नहीं बोलता, तो अपने गर्व से सिर उठाकर कहा—मैं धनकुबेर की क्रीत दासी नहीं हूँ। मेरे गृहिणीत्व का अधिकार केवल मेरा पदस्खलन ही छीन सकता है। मुझे विश्वास है, मैं अपने आचरण से अब तक इस पद की स्वामिनी हूँ। कोई भी मुझे इससे वंचित नहीं कर सकता।

आश्चर्य से देखा नन्दन ने और हत्बुद्धि होकर सुना कलश ने। दोनों उपवन के बाहर चले गये।

वह उपवन सबसे परित्यक्त और उपेक्षणीय बन गया। भीतर बैठी हुई राधा ने यह सब देखा।

× × ×

नन्दन ने पिता का अनुसरण किया। वह धीरे-धीरे राधा को भूल चला, परन्तु नये ब्याह का नाम लेते ही चौंक पड़ता। उसके मन में धन की ओर से वितृष्णा जगी। ऐश्वर्य्य का यान्त्रिक शासन जीवन को नीरस बनाने लगा। उसके मन की अतृप्ति विद्रोह करने के लिए सुविधा खोजने लगी।

कलश ने उसके मनोविनोद के लिए नया उपवन बनवाया। नन्दन अपनी स्मृतियों का लीला-निकेतन छोड़कर वहीं रहने लगा।

× × ×

राधा के आभूषण बिकते थे और उस सेठ के द्वार की अतिथि-सेवा वैसी ही रहती। मुक्त द्वार का अपरिमित व्यय और आभूषणों के विक्रय की आय—कब तक यह युद्ध चले? अब राधा के पास बच गया था, वही मणि-निर्मित दीपाधार, जिसे महादेवी ने उसकी क्रीड़ा के लिए बनवाया था।

थोड़ा-सा अन्न अतिथियों के लिए बचा था। राधा दो दिन से उपवास कर रही थी। दासी ने यह कहा—स्वामिनी! यह कैसे हो सकता है कि आपके सेवक, बिना आपके भोजन किये अन्न ग्रहण करें?

राधा ने कहा—तो, आज यह मणि-द्वीप बिकेगा। दासी उसे ले आयी। वह यन्त्र से बनी हुई रत्न-जटित नर्तकी नाच उठी। उसके नूपुर की झंकार उस दरिद्र भवन में गूँजने लगी। राधा हँसी। उसने कहा—मनुष्य-जीवन में इतनी नियमानुकूलता यदि होती!

स्नेह से चूमकर उसे बेचने के लिए अनुचर को दे दिया। पण्य में पहुँचते ही दीपाधार बड़े-बड़े रत्न-वणिकों की दृष्टि का एक कुतूहल बन गया। उसके चूड़ामणि का दिव्य आलोक सभी की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता था। मूल्य की बोली बढ़ने लगी। कलश भी पहुँचा। उसने पूछा—यह किसका है? अनुचर ने उत्तर दिया—मेरी स्वामिनी सौभाग्यवती श्रीमती राधा देवी का।

लोभी कलश ने डाँटकर कहा—मेरे घर की वस्तु इस तरह चुराकर तुम लोग बेचने फिर आओगे, तो बन्दी-गृह में पड़ोगे, भागो।

अमूल्य दीपाधार से वंचित सब लोग लौट गये। कलश उसे अपने घर उठवा ले गया।

राधा ने सब सुना—वह कुछ न बोली।

× × ×

गंगा और शोण में एक साथ ही बाढ़ आयी। गाँव के गाँव बहने लगे। भीषण हाहाकार मचा। कहाँ ग्रामीणों की असहाय दशा और कहाँ जल की उद्दण्ड बाढ़, कच्चे झोंपड़े उस महा जल-व्याल की फूँक से तितर-बितर होने लगे। वृक्षों पर जिसे आश्रय मिला, वही बच सका। नन्दन के हृदय ने तीसरा धक्का खाया। नन्दन का सत्साहस उत्साहित हुआ। वह अपनी पूरी शक्ति से नावों की सेना बनाकर जलप्लावन में डट गया और कलश अपने सात खण्ड के प्रासाद में बैठा यह दृश्य देखता रहा।

रात नावों पर बीतती है और बाँसों के छोटे-छोटे बेड़े पर दिन। नन्दन के लिए धूप, वर्षा, शीत कुछ नहीं। अपनी धुन में वह लगा हुआ है। बाढ़-पीड़ितों का झुण्ड सेठ के प्रासाद में हर नाव से उतरने लगा। कलश क्रोध के मारे बिलबिला उठा। उसने आज्ञा दी कि बाढ़-पीड़ित यदि स्वयं नन्दन भी हो, तो वह प्रासाद में न आने पावे। घटा घिरी थी, जल बरसता था। कलश अपनी ऊँची अटारी पर बैठा मणि-निर्मित दीपाधार का नृत्य देख रहा था।

× × ×

नन्दन भी उसी नाव पर था, जिस पर चार दुर्बल स्त्रियाँ, तीन शीत से ठिठुरे हुए बच्चे और पाँच जीर्ण पंजर वाले वृद्ध थे। 'उस समय नाव द्वार पर जा लगी। सेठ का प्रासाद गंगा-तट की एक ऊँची चट्टान पर था। वह एक छोटा-सा दुर्ग था। जल अभी द्वार तक ही पहुँच सका था। प्रहरियों ने नाव को देखते ही रोका—पीड़ितों को इसमें स्थान नहीं।

नन्दन ने पूछा—क्यों ?

महाश्रेष्ठि कलश की आज्ञा।

नन्दन ने एक बार क्रोध से उस प्रासाद की ओर देखा और माँझी को नाव लौटाने की आज्ञा दी। माँझी ने पूछा—कहाँ ले चलें ? नन्दन कुछ न बोला। नाव उस बाढ़ में चक्कर खाने लगी। सहसा दूर उसे जलमग्न वृक्षों की चोटियों और पेड़ों के बीच में एक गृह का ऊपरी अंश दिखायी पड़ा। नन्दन ने संकेत किया। माँझी उसी ओर नाव खेने लगा।

× × ×

गृह के नीचे के अंश में जल भर गया था। थोड़ा-सा अन्न और ईंधन ऊपर के भाग में बचा था। राधा उस जल में घिरी हुई अचल थी। छत के मुँडेर पर बैठी वह जलमयी प्रकृति में डूबती हुई सूर्य की अन्तिम किरणों को ध्यान से देख रही थी। दासी ने कहा—स्वामिनी ! वह दीपाधार भी गया, अब तो हम लोगों के लिए बहुत थोड़ा अन्न घर में बच रहा है।

देखती नहीं, यह प्रलय-सी बाढ़ ! कितने मर मिटे होंगे। तुम तो पक्की छत पर बैठी अभी यह दृश्य देख रही हो। आज से मैंने अपना अंश छोड़ दिया। तुम लोग जब तक जी सको जीना।

सहसा नीचे झाँककर राधा ने देखा, एक नाव उसके वातायन से टकरा रही है और एक युवक उसे वातायन के साथ दृढ़ता से बाँध रहा है।

राधा ने पूछा—कौन है ?

नीचे सिर किये नन्दन ने कहा—बाढ़-पीड़ित कुछ प्राणियों को क्या आश्रय मिलेगा ? अब जल का क्रोध उतर चला है। केवल दो दिन के लिए इतने मरने वालों को आश्रय चाहिए।

ठहरिये, सीढ़ी लटकायी जाती है।

राधा और दासी तथा अनुचर ने मिलकर सीढ़ी लगायी। नन्दन विवर्ण मुख एक-एक को पीठ पर लादकर ऊपर पहुँचाने लगा। जब सब ऊपर आ गये, तो राधा ने आकर कहा—और तो कुछ नहीं है, केवल द्विदलों का चूस इन लोगों के लिए है, ले आऊँ ?

नन्दन ने सिर उठाकर देखा, राधा ! वह बोल उठा—राधा ! तुम यहीं हो ?

हाँ स्वामी, मैं अपने घर हूँ। गृहिणी का कर्तव्यपालन कर रही हूँ।

पर मैं गृहस्थ का कर्तव्यपालन न कर सका। राधा पहले मुझे क्षमा करो।

स्वामी, यह अपराध मुझसे न हो सकेगा। उठिए, आपकी कर्मण्यता से मेरा ललाट उज्ज्वल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था नाथ !

दोनों प्रसन्न होकर कर्तव्य में लगे। यथासम्भव उन दुखियों की सेवा होने लगी।

एक प्रहर के बाद नन्दन ने कहा—मुझे भ्रम हो रहा है कि कोई यहाँ पास ही विपन्न है। राधा ! अभी रात अधिक नहीं हुई है। मैं एक बार नाव लेकर जाऊँ ?

राधा ने कहा—मैं भी चलूँ ?

नन्दन ने कहा—गृहिणी का काम करो राधा ! कर्तव्य कठोर होता है, भाव-प्रधान नहीं।

नन्दन एक माँझी को लेकर चला गया और राधा दीपक जलाकर मुँडेर पर बैठी थी। उसकी दासी और दास पीड़ितों की सेवा में लगे थे। बादल खुल गये थे। असंख्य नक्षत्र झलमलाकर निकल आये, मेघों के बन्दीगृह से जैसे छुट्टी मिली हो। चन्द्रमा भी धीरे-धीरे उस त्रस्त प्रदेश को भयभीत होकर देख रहा था।

एक घण्टे में नन्दन का शब्द सुनायी पड़ा—सीढ़ी !

राधा दीपक दिखला रही थी और सीढ़ी के सहारे नन्दन ऊपर एक भारी बोझ लेकर चढ़ रहा था।

छत पर आकर उसने कहा—एक वस्त्र दो राधा ! राधा ने एक उत्तरीय दिया। वह मुमूर्षु व्यक्ति नग्न था। उसे ढककर नन्दन ने थोड़ा सेंक दिया, गर्मी भीतर पहुँचते ही वह हिलने-डोलने लगा। नीचे से माँझी ने कहा—जल बड़े वेग से हट रहा है, नाव ढीली न करूँगा तो लटक जायगी।

नन्दन ने कहा तुम्हारे लिए भोजन लटकाता हूँ, ले लो। कालरात्रि बीत गयी। नन्दन ने प्रभात में आँखें खोलकर देखा कि सब सो रहे हैं और राधा उसके पास बैठी सिर सहला रही है।

इतने में पीछे से लाया हुआ मनुष्य उठा, अपने को अपरिचित स्थान में देखकर चिल्ला उठा—मुझे वस्त्र किसने पहनाया, मेरा व्रत किसने भंग किया ?

नन्दन ने हँसकर कहा—कपिंजल ! यह राधा का गृह है, तुम्हें उसके आज्ञानुसार यहाँ रहना होगा। छोड़ो पागलपन। चलो, बहुत से प्राणी हम लोगों की सहायता के अधिकारी हैं। कपिंजल ने कहा—सो कैसे हो सकता है ? तुम्हारा-हमारा संग ! असम्भव है।

मुझे दण्ड देने के लिए ही तो तुमने यह स्वाँग रचा था। राधा तो उसी दिन से निर्वासित थी और कल से मुझे भी अपने घर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं। कपिंजल ! आज तो हम और तुम दोनों बराबर हैं और इतने अधमरों के प्राणों का दायित्व भी हमीं लोगों पर है। यह व्रत-भंग नहीं, व्रत का आरम्भ है। चलो, उस दरिद्र कुटुम्ब के लिए अन्न जुटाना होगा।

कपिंजल आज्ञाकारी बालक की भाँति सिर झुकाए उठ खड़ा हुआ।

२

मैकू

प्रेमचन्द

[१]

कादिर और मैकू ताड़ीखाने के सामने पहुँचे, तो वहाँ काँग्रेस के वालंटियर झंडा लिये खड़े नजर आये। दरवाजे के इधर-उधर हजारों दर्शक खड़े थे। शाम का वक्त था। इस वक्त गली में पियक्कड़ों के सिवा और कोई न आता था। भले आदमी इधर से निकलते झिझकते। पियक्कड़ों की छोटी-छोटी टोलियाँ आती-जाती रहती थीं। दो-चार वैश्याएँ दूकान के सामने खड़ी नजर आती थीं। आज यह भीड़-भाड़ देखकर मैकू ने कहा—बड़ी भीड़ है बे, कोई दो-तीन सौ आदमी होंगे।

कादिर ने मुसकिराकर कहा—भीड़ देखकर डर गये क्या ? यह सब हुर्र हो जायेंगे, एक भी न टिकेगा। यह लोग तमाशा देखने आये हैं, लाठियाँ खाने नहीं आये हैं।

मैकू ने सन्देह के स्वर में कहा—मगर पुलिस के सिपाही भी तो बैठे हैं। ठीकेदार ने तो कहा था, पुलिस न बोलेगी।

कादिर—हाँ बे, पुलिस न बोलेगी। तेरी नानी क्यों मरी जा रही है। पुलिस वहाँ बोलती है, जहाँ चार पैसे मिलते हैं, या जहाँ कोई औरत का मामला होता है। ऐसी बेफजूल बातों में पुलिस नहीं पड़ती। पुलिस तो और शह दे रही है। ठीकेदार से साल में सैकड़ों रुपये मिलते हैं। पुलिस इस वक्त उसकी मदद न करेगी तो कब करेगी ?

मैकू—चलो, आज दस हमारे भी सीधे हुए। मुफ्त में पीयेंगे, वह अलग।

मगर सुनते हैं, काँग्रेसवालों में बड़े-बड़े मालदार लोग शरीक हैं। वह कहीं हम लोगों से कसर निकालें तो बुरा होगा।

कादिर—अबे, कोई कसर-वसर नहीं निकालेगा, तेरी जान क्यों निकल रही है। काँग्रेसवाले किसी पर हाथ नहीं उठाते, चाहे कोई उन्हें मार ही डाले। नहीं तो उस दिन जुलूस में दस-बारह चौकीदारों की मजाल थी कि दस हजार आदमियों को पीटकर रख देते। चार तो वहीं ठण्डे हो गये थे, मगर एक ने हाथ नहीं उठाया। इनके जो महात्मा हैं, वह बड़े भारी फकीर हैं। उनका हुकम है कि चुपके से मार खा लो, लड़ाई मत करो।

यों बातें करते-करते दोनों ताड़ीखाने के द्वार पर पहुँच गये। एक स्वयं-सेवक हाथ-जोड़कर सामने आ गया और बोला—भाई साहब, आपके मजहब में ताड़ी हराम है।

मैकू ने बात का जवाब चाँटे से दिया। ऐसा तमाचा मारा कि स्वयंसेवक की आँखों में खून आगया। ऐसा मालूम होता था, गिरा चाहता है। दूसरे स्वयंसेवक ने दौड़कर उसे सँभाला। पाँचों उँगलियों का रक्तमय प्रतिबिम्ब झलक रहा था।

मगर वालंटियर तमाचा खाकर भी अपने स्थान पर डटा रहा। मैकू ने कहा—अबे हटता है कि और लेगा?

स्वयंसेवक ने नम्रता से कहा—"अगर आपकी यही इच्छा है, तो सिर सामने किये हुए हूँ। जितना चाहिए, मार लीजिए। मगर अन्दर न जाइए।"

यह कहता हुआ वह मैकू के सामने बैठ गया।

मैकू ने स्वयंसेवक के चेहरे पर निगाह डाली। उसकी पाँचों उँगलियों के निशान झलक रहे थे। मैकू ने इसके पहले अपनी लाठी से टूटे हुए कितने ही सिर देखे थे, पर आज की सी ग्लानि उसे कभी न हुई थी। वह पाँचों उँगलियों के निशान किसी पंचशूल की भाँति उसके हृदय में चुभ रहे थे।

कादिर चौकीदारों के पास खड़ा सिगरेट पीने लगा। वहीं खड़े-खड़े बोला—"अबे, खड़ा देखता क्या है, लगा कसके एक हाथ।"

मैकू ने स्वयंसेवक से कहा—"तुम उठ जाओ, मुझे अन्दर जाने दो।"

"आप मेरी छाती पर पाँव रखकर चले जा सकते हैं।"

"मैं कहता हूँ, उठ जाओ, मैं अन्दर ताड़ी न पीऊँगा, एक दूसरा ही काम है।"

उसने यह बात कुछ इस दृढ़ता से कही कि स्वयंसेवक उठकर रास्ते से हट गया। मैकू ने मुसकराकर उसकी ओर ताका। स्वयंसेवक ने फिर हाथ जोड़कर कहा—"अपना वादा भूल न जाना।"

एक चौकीदार बोला—"लात के आगे भूत भागता है, एक ही तमाचे में ठीक हो गया।"

कादिर ने कहा—"वह तमाचा बच्चा को जन्म-भर याद रहेगा। मैकू के तमाचे सह लेना मामूली काम नहीं है।"

चौकीदार—आज ऐसा ठोंको, इन सबों को कि फिर इधर आने का नाम न लें।

कादिर—खुदा ने चाहा तो फिर आयेंगे भी नहीं। मगर हैं सब बड़े हिम्मती। जान को हथेली पर लिये फिरते हैं।

[२]

मैकू भीतर पहुँचा, तो ठीकेदार ने स्वागत किया—"आओ मैकू मियाँ। एक ही तमाचा लगाकर क्यों रह गये? एक तमाचे का भला इन पर क्या असर होगा? बड़े लतखोर हैं सब। कितना ही पीटो, असर ही नहीं होता। बस, आज सबों के हाथ-पाँव तोड़ दो, फिर इधर न आयें।

मैकू—तो क्या और न आयेंगे?

ठीकेदार—फिर आते सबों की नानी मरेगी।

मैकू—और जो कहीं इन तमाशा देखनेवालों ने मेरे ऊपर डण्डे चलाये तो।

ठीकेदार—तो पुलिस उनको मार भगायेगी। एक झड़प में मैदान साफ हो जायगा। लो, जब तक एकाध बोतल पी लो। मैं तो आज मुफ्त की पिला रहा हूँ।

मैकू—क्या इन ग्राहकों को भी मुफ्त?

ठीकेदार—क्या करता, कोई आता ही न था। सुना कि मुफ्त मिलेगी, तो सब धँस पड़े।

मैकू—मैं तो आज न पीऊँगा।

ठीकेदार—क्यों? तुम्हारे लिए तो आज ताजी ताड़ी मँगवायी है।

मैकू—यों ही, आज पीने की इच्छा नहीं है। लाओ कोई लकड़ी निकालो। हाथ से मारते नहीं बनता।

ठीकेदार ने लपककर एक मोटा सोंटा मैकू के हाथ में दे दिया, और डण्डेबाजी का तमाशा देखने के लिए द्वार पर खड़ा हो गया।

मैकू ने एक क्षण डण्डे को तोला, और उछलकर ठीकेदार को ऐसा डण्डा रसीद किया कि वह वहीं दोहरा होकर द्वार में गिर पड़ा। इसके बाद मैकू ने पियक्कड़ों की ओर रुख किया और लगा डण्डों की वर्षा करने। न आगे देखता था, न पीछे, बस डण्डे चलाये जाता था।

ताड़ीबाजों के नशे हिरन हुए। घबड़ा-घबड़ाकर भागने लगे; पर किवाड़ों के बीच में ठीकेदार की देह बिंधी पड़ी थी, उधर से फिर भीतर की ओर लपके। मैकू ने फिर डण्डों से स्वागत किया। आखिर सब ठीकेदार की देह को रौंद-रौंदकर भागे। किसी का हाथ टूटा, किसी का सिर फूटा, किसी की कमर टूटी। ऐसी भगदड़ मची कि एक मिनट के अन्दर ताड़ीखाने में एक चिड़िये का पूत भी न रह गया।

एकाएक मटकों के टूटने की आवाज आयी। स्वयंसेवक ने भीतर झाँककर देखा तो मैकू मटकों को विध्वंस करने में जुटा हुआ था। बोला—भाई साहब, अजी भाई साहब, यह आप क्या गजब कर रहे हैं? इससे तो कहीं अच्छा था कि आपने हमारे ही ऊपर अपना गुस्सा उतारा होता।

मैकू ने दो-तीन हाथ चलाकर बाकी बची हुई बोतलों और मटकों का सफाया कर दिया और तब चलते-चलते ठीकेदार को एक लात जमाकर बाहर निकल आया।

कादिर ने उसको रोककर पूछा—तू पागल तो नहीं हो गया बे? क्या करने आया था, और क्या कर रहा है?

मैकू ने लाल-लाल आँखों से उसकी ओर देखकर कहा—हाँ, अल्लाह का शुक्र है कि मैं जो करने आया था, वह न करके कुछ और ही कर बैठा। तुममें कूवत हो, तो वालेंटरों को मारो, मुझमें कूवत नहीं है। मैंने तो जो एक थप्पड़ लगाया, उसका रञ्ज अभी तक है और हमेशा रहेगा? तमाचे के निशान मेरे कलेजे पर बन गये हैं। जो लोग दूसरों को गुनाह से बचाने के लिए अपनी जान देने को खड़े हैं, उन पर वही हाथ उठायेगा, जो पाजी है, कमीना है, नामर्द है, मर्द नहीं है। कह दो पुलिसवालों से, चाहें तो मुझे गिरफ्तार कर लें।

कई ताड़ीबाज खड़े सिर सहलाते हुए, उसकी ओर सहमी हुई आँखों से ताक रहे थे। कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ती थी। मैकू ने उनकी ओर देखकर

कहा—मैं कल फिर आऊँगा। अगर तुम में से किसी को यहाँ देखा तो खून ही पी जाऊँगा। जेल और फाँसी से नहीं डरता। तुम्हारी भलमंसी इसी में है कि अब भूलकर भी इधर न आना। यह काँग्रेसवाले तुम्हारे दुश्मन नहीं हैं। तुम्हारे और तुम्हारे बाल-बच्चों की भलाई के लिए ही तुम्हें पीने से रोकते हैं। इन पैसों से अपने बाल-बच्चों की परवरिश करो, घी-दूध खाओ। घर में तो फाके हो रहे हैं, घरवाली तुम्हारे नाम को रो रही है, और तुम यहाँ बैठे पी रहे हो? लानत है इस नशेबाजी पर।

मैकू ने वहीं डण्डा फेंक दिया और कदम बढ़ाता हुआ घर चला गया। इस वक्त तक हजारों आदमियों का हुजूम हो गया था। सभी श्रद्धा, प्रेम और गर्व की आँखों से मैकू को देख रहे थे।

३

न्याय-मंत्री

सुदर्शन

[१]

यह घटना आज से २५०० वर्ष पहले की है। एक दिन संध्या समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्ध-गया नामक गाँव में एक परदेशी शिशुपाल नामक ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे निर्धन थे। घोर दारिद्रय ने भूखे बैल की नाई उनकी हड्डियों का पिंजर निकाल रखा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेशी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल उठा, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है। उन्होंने मुसकराते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेशी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गये। उन दिनों भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—आपका पुत्र बड़े काम का आदमी है, उसका सेवा-भाव देखकर जी खुश हो गया।

शिशुपाल ने ऐसे सिर उठाया जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिए, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं ! अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

"मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिसको सुनकर परदेशी दंग रह गया। उसकी बातें युक्तियुक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे से गाँव में ऐसा विद्वान, ऐसा तत्त्वदर्शी पंडित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्तियुक्त तर्क शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा—"मुझे ख्याल न था कि यहाँ गोवर में फूला खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाये तो आपको किसी ऊँचे पद पर नियुक्त कर दें।

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुसकराहट आ गयी, जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है जैसे श्मशान में चाँदनी, वरन् उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गयीं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर उठाया और कहा—"आजकल बड़ा अन्याय हो रहा है। अन्याय देखकर मेरा रक्त उबलने लगता है।"

परदेशी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—"शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।"

"रहने दो। मैं सब जानता हूँ।"

"दोष निकालना सुगम है, पर कुछ करके दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े पत्ते की नाईं झुलसकर उत्तर दिया—"अवसर मिले तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।"

"तो आप चाहते हैं।"

"हाँ, अवसर चाहता हूँ।"

"फिर कोई अन्याय न होगा ?"

"सर्वथा न होगा।"

"कोई अपराधी न बचेगा।"

"कदापि नहीं।"

परदेशी ने सहज भाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिए कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डंका बजा दूंगा।"

परदेशी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँसकर उत्तर दिया–"यदि मैं अशोक होता तो आपकी मनोकामना पूर्ण कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक संदेह उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण में दूर हो गया; उसी तरह जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्रखंड को उड़ा ले जाते हैं।

[२]

दूसरे दिन शिशुपाल को महराज अशोक के दरबार में बुलाया गया। इस समाचार से गाँव भर में आग-सी लग गयी। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ ही हुआ था और दमन-नीति का दौर-दौरा था। उस समय महाराज ऐसे निर्दयी और निष्ठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का बुलावा है। सबको विश्वास हो गया कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा, और वे फूट-फूटकर रोने लगे। लोग धीरज बँधाते थे, परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी नियम का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा। निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दुःख देने लगे। भय और आशंका की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे जैसे समुद्री चट्टान पानी के प्रहार में खड़ी रहती है। उन्होंने अपने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गयी थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे, और जब तक राजमहल में न पहुँच गये, उस समय तक उनको किसी बात का भय न था। परन्तु राजमहल की चमक-दमक देखकर उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, वेधड़क कह देता हूँ। कहीं इसका फल न भुगतना पड़े। कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेशी पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो। और यह आग उसी की लगायी हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की जो एक अपरिचित से घुल-

मिलकर बातें करता रहा। कभी सोचते, कदाचित् मेरी दरिद्रता की दुःख-कथा वहाँ तक पहुँच गयी हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इसी विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुरझा जाता।

इतने में प्रतीहार ने कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। इनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्राण होंठों तक आ गये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गयी। महाराज अशोक राजकीय ठाठ-बाट से कमरे में दाखिल हुए और मुस्कराते हुए बोले—ब्राह्मण देवता! आपने मुझे पहचाना?

शिशुपाल घबरा कर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था—ये वही परदेशी थे।

[३]

हाँ, ये वही परदेशी थे। शिशुपाल काँपकर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेने वाला परदेशी भारत का सम्राट् हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा इतनी स्वतंत्रता से बातचीत न करता।

महाराज अशोक बोले—"हूँ!"

"परन्तु मैंने कोई बात गलत नहीं कही थी।"

"हूँ!"

"मैं प्रमाण दे सकता हूँ।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

"मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—क्या वह सच हो जावेगा?

महाराज ने कहा—"आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाये तो

मैं न्याय का डंका बजा दूंगा । मैं आपके इस कथन की परीक्षा करना चाहता हूँ । आप तैयार हैं ?"

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है तो मैं तैयार हूँ ।

"कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो । सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा ।"

"बहुत अच्छा ।"

"पाटलिपुत्र की पुलिस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा ।"

"बहुत अच्छा ।"

"यदि कोई दुर्घटना हो गयी अथवा कोई हत्या हो गयी तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा ।"

"बहुत अच्छा ।"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतारकर बोले—"यह राजमुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल सूर्य की पहली किरण के साथ न्याय-मंत्री समझे जाओगे । मैं देखूंगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो ।

[४]

एक मास व्यतीत हो गया । न्याय-मंत्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गयी । ऐसा प्रतीत होता था, जैसे शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है । उन्होंने चोर-डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था जैसे सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है । उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाजे तक खुले छोड़ जाते थे, परन्तु किसी को अन्दर झाँकने का साहस न होता था । शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था न सिफारिश सुनता था । वह केवल दंड देना जानता था और दंड भी शिक्षाप्रद । नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया ।

रात्रि का समय था । आकाश में तारे खिल रहे थे । एक पुरुष ने एक विशाल भवन के द्वार पर आवाज दी । झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकालकर पूछा—"कौन है ?"

"मैं हूँ, दरवाजा खोल दो।"

"परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाजा खोल दो।'

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूंगी। तुम इस समय जाओ।"

उस व्यक्ति ने क्रोध से कहा—"दरवाजा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।

उसने तलवार निकालकर दरवाजे पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरे-दार ने आकर उसका हाथ थाम लिया, और कहा—"यह तुम क्या कर रहे हो?"

धनी ने उसकी ओर इस तरह से देखा जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—"तुम कौन हो?"

"मैं पहरेदार हूँ।"

"तुमको इस पद पर किसने नियत किया है?"

"न्याय-मंत्री ने।"

"मूर्खता न करो, मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय यदि महाराज अशोक आ जायँ तो भी न टलूंगा।"

"क्यों अपनी मृत्यु को बुला रहे हो।"

"मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।"

"किससे प्रण किया है?"

"न्याय-मंत्री से।"

"क्या?"

"यही, जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु मेरे शरीर में शेष है, मैं अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे नहीं हटूँगा।"

उस व्यक्ति ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप गलती पर हैं। मैं नौकरी पर हूँ।"

परन्तु उस पुरुष ने सुना अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली। परन्तु वह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया और मारा गया। उस पुरुष का लहू सूख गया। उसके हाथों से तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु घाव मर्म-स्थान पर लगा। उसने पहरेदार की लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

[५]

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में ! राजधानी में आतंक छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन-मरण का प्रश्न है। और न्याय-मंत्री ने तो इस मामले की खोज में दिन-रात एक कर दिया। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गयी।

घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी, परन्तु कुछ पता नहीं लगा। असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्ज्वलित कर रहा था। वे कहते—तुमने कितने जोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया ? न्याय-मंत्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज पूछते, घातक कब तक पकड़ जायेगा। न्याय-मंत्री उत्तर देते—यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा। महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते—हत्यारा पकड़ गया ? न्याय-मंत्री कहते—अभी नहीं। महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं। बादल के समान गरजकर बोलते—मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तंग आ गया हूँ।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—तुम्हें तीन दिन की और अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।

इस समाचार से नगर में हलचल मच गयी। एक ही मास के अन्दर शिशुपाल लोकप्रिय हो चुके थे। उनकी न्यायशीलता की चारों ओर धाक जम गयी थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते,

इसी विषय पर बातचीत करने लगते । वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बालबाँका न हो । शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ, यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया—अब कुछ ही घंटे बाकी थे ।

रात्रि का समय था, शिशुपाल की आँखों में नींद न थी । वे नगर के एक घने बाजार के अन्दर घूम रहे थे । सहसा एक मकान की खिड़की खुली, और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा । चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी । स्त्री ने धीरे से कहा—तुम कौन हो ? पहरेदार ?

निराशा के अंधकार में आशा की एक किरण चमक गयी । शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मंत्री हूँ ।"

"जरा यहीं ठहरो ।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गयी और दीपक लेकर दरवाजे पर आयी । न्याय-मंत्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गयी, और बोली—आज अंतिम रात्रि है ?

न्याय-मंत्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और शान्ति से उत्तर दिया—"हाँ, अन्तिम ।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ असाधारण था । स्त्री तिलमिलाकर खड़ी हो गयी और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ ।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"तो सब कुछ बता दो ।"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की तरह चारों ओर देखा ।

[६]

दूसरे दिन दरबार में तिल रखने को स्थान न था । आज न्याय-मंत्री का भाग्य-निर्णय होने को था । अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही पुकारा—"न्याय-मंत्री !"

शिशुपाल सामने आये । इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई घबड़ाहट न थी ।

महाराज ने पूछा—"हत्यारे का पता चला ?"

न्याय-मंत्री ने साहसपूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, चल गया ।"

"पेश करो ।"

न्याय-मंत्री ने सिर झुकाकर कुछ सोचा । इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था । यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था । सहसा उन्होंने दृढ़ संकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर !"

"श्रीमान् ।"

"गिरफ्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ ।"

संकेत महाराज की ओर था । दरबार में निस्तब्धता छा गयी । अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ ताँबा हो । नेत्रों से अग्निकण निकलने लगे । वे तिलमिलाकर खड़े हो गये और बोले—"अरे ब्राह्मण ! अब तुझे यहाँ तक साहस हो गया !"

न्याय-मंत्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं, और अपने शब्दों को फिर दुहराया—"मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो, हत्यारा यही है ।"

धनवीर पुतली की तरह आगे बढ़ा । दरबारियों का दम रुक गया । महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये । न्याय-मंत्री ने कहा—"यह हत्यारा है । मेरी अदालत में पेश करो ।"

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर चला । वहाँ सारा नगर उपस्थित था ।

शिशुपाल ने आज्ञा दी—"अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जावे ।"

महाराज अशोक ने संकेत किया । मन्त्रीगण पीछे हट गये । महाराज उस जंगले में खड़े हो गये, जो अपराधियों के लिए नियत था । किसी छत्रपति नरेश को अपने राज्य में स्वयं उसके नौकर के हाथों यह सम्मान हो सकता है, यह किसी को आशंका न थी । परन्तु शिशुपाल दृढ़ संकल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे । उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया । हाथों को न्याय-रज्जु ने बाँध रखा था । वे धीरे से बोले—"तुम पर पहरेदार की हत्या का अभियोग है । तुम इसका क्या उत्तर देते हो ?"

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—"वह उद्दंड था।"

"वह उद्दंड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।"

"वह उद्दंड था।"

"तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हें दंड देता हूँ।"

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मंत्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया, न्याय-मंत्री पागल हो गया है। एक आवाज आयी, तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का संकेत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गयी। न्याय-मंत्री ने कड़ककर कहा—"आपका क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मंत्री के आसन पर हूँ और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।"

"अशोक! तुमने एक कर्मचारी की हत्या की है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानन्द की सागर लहरें मार रहा था। सोचते थे, यह मनुष्य सोना है, जो अग्नि में पड़कर कुन्दन हो गया है। कहता था, मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठा न था। इसके अपने कहने की लाज रख ली। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं, जिन पर लोग अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षापूर्वक कहा—"मैं इस निर्णय के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्याय-मंत्री ने एक कर्मचारी को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मंत्री ने खड़े होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मंत्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राज-कर्मचारी की हत्या की गयी है। उसका दंड अवश्यंभावी है। परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दंड दे सकता है। अतएव मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाये, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकायी जाये, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय-मंत्री का जय-जयकार हुआ। लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वे कहते थे, वह मनुष्य नहीं देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है, न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता। परन्तु इसने उन्हें 'तुम' कहकर सम्बोधित किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर में रोमांच हो आया। सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने जोर से कहा—"न्याय-मंत्री की जय।"

रात हो गयी थी। न्याय-मंत्री राजमहल में पहुँचे और अशोक के सम्मुख अँगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज ! यह अपनी वस्तुएँ सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।"

अशोक ने सम्मान-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखकर कहा—"आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमान्......"

अशोक ने यह बात काटकर कहा—"आपका साहस और न्याय मैं कभी नहीं भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे अपने राज्य में कोई दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नजर नहीं आता है।"

न्याय-मंत्री निरुत्तर हो गये।

४
चाची

विष्णु प्रभाकर

उस दिन अचानक चाची के दो मास पूर्व स्वर्गवास होने का समाचार पाकर सन्न रह गया । इतने दिन तक कोई सूचना नहीं, कहीं कोई हलचल नहीं, मेरे आसपास कोई उसे जानता तक नहीं । इस विशाल गुंजायमान नगर की तो चर्चा ही क्या, उसके अपने कस्बे में जैसे वह अनेक में एक बन गयी । स्वतंत्रता ने भूचाल की तरह देश के एक भाग का रूप ही पलट दिया । जैसे पुरानी नदियाँ मिट जाती हैं, नयी उभर आती हैं, वैसे ही एक जनसमूह देखते-देखते लुप्त हो गया, दूसरा आ गया, दूसरा जो अपना है पर जिसकी भाषा अलग, वेशभूषा अलग, खान-पान अलग, नितान्त अपरिचित···उसी अपरिचय में चाची ऐसे दूर जा पड़ी जैसे बरसाती नदी के किनारे ।

कुछ अच्छा नहीं लगा । चाची की मूर्ति आँखों में उतरने लगी । झुर्रियों से भरा पतला-लम्बा मुख, कृशकाय, पान खाने से भद्दे हुए दाँत, लम्बे पर दबे-से नयन लेकिन चमक इतनी कि बिल्ली को भी झिझकना पड़े । हँसती तो दोहरी हो जाती, हर वक्त खों-खों करती, साँस ऐसे चलता जैसे धौंकनी । पर जब इठलाकर चलती तो आस-पास की हवा साँय-साँय कर उठती और अक्सर वह इठलाकर ही चलती थी । जब बोलने लगती तो बड़े-बड़े वाक्पटु कान दबा कर रफूचक्कर हो जाते । शब्द मोहल्ले के इस छोर से उस छोर तक गूंज उठता । वह शासन करना जानती थी । जब तक पति जिया, उस पर शासन किया । विधवा हो गयी तो बहुओं पर हुकूमत चलायी । मोहल्ले भर में उसकी धाक थी । यही नहीं, कस्बे से लोग भी जब उधर से गुजरते तो चाची को सिर झुकाकर जाते········ ।

पति को उसने अपने सामने साँस तोड़ते देखा। बेटी मरी, दो-दो जवान बेटे चल बसे। कई पोतों को उसने स्वयं कफन में लपेटा। जब कभी उसका पोता अब-तब का होता तो उसके दरवाजे पर एक गम्भीर हलचल मच उठती झाड़ने फूँकने वाले, टोने टोटके वाले आते और जाते। कभी-कभी डाक्टर-वैद्यों के दर्शन भी हो जाते, पर वह पास बैठी बच्चे को गौर से देखती रहती। उसे विश्वास होता कि मौत खाली हाथ नहीं लौटेगी, कभी नहीं लौटेगी। मौत के पदचिह्न जैसे वह पहचानती थी। यही नहीं, जब-जब उसके नये पोते का जन्म होता तो वह खूब हँस-गाकर, खूब ठाठ-बाट से उसका स्वागत करती और जैसे ही मंगलध्वनि का स्वर मंद पड़ता, वह मेरी माँ के पास आती और कहती—"ना जिठानी ! देख लेना, जियेगा नहीं।"

वह आपादमस्तक कुरीतियों में डूबी हुई थी। झाड़-फूँक, टोने-टोटके, मान-मनौती, भेंट-पूजा, उसके आस-पास यही सब सत्य था। वह ग्रहण का दान लेती थी, काज की मिठाइयों से उसका घर भरा रहता, मृत्यु-कर भी वह वसूल करती थी लेकिन कभी किसी ने 'नीचे' कहकर उसका अपमान या उपेक्षा करने की धृष्टता की हो सो याद नहीं पड़ता। इसके विपरीत उसके बेटे के ब्याह में सभी सवर्ण उसके घर में जीम गये थे। उसकी पक्की तिमंजली हवेली मुहल्ले में सबसे अलग और सबसे ऊपर चमकती थी। उसके एक ओर अग्निमुख ब्राह्मण कुल का निवास था, दूसरी ओर एक कुलीन अग्रवाल परिवार बसता था। दोनों से वह समय-समय पर सन्धि और विग्रह का खेल खेलती रहती थी। प्यार और शत्रुता दोनों की चरम सीमा उसके लिए सहज-गम्य थी। प्यार करती तो सब कुछ लुटा देती, दुश्मनी पर उतरती तो कचहरी तक चली जाती। उसकी आँखों से झरने की तरह प्यार झरता तो बरसाती नाले की तरह गालियाँ भी उमड़ती-उफनती··· और मजाक पर उतरती तो वह चुटकी लेती कि तिलमिला देती। एक दिन घूँघट की ओट से पिताजी की ओर देखकर मेरी माँ से बोली—"क्यों जिठानी ! तू दुहेजू है ?"

माँ ने कहा—"नहीं तो।"

"लगे तो ऐसा ही है, जेठ है बुड्ढा और तू है नवेली।"

माँ हँस पड़ी—"अरी इनका उठान ही ऐसा है। मुझसे कुल एक साल बड़े हैं।"

"अच्छा," वह खिलखिलाई—"मैं तो समझी थी कि माँ-बाप ने जिठानी को बुड्ढे से बाँध दिया है।"

जब मैं उसके सामने वाले मकान में आकर बसा तो नियमानुसार मुझे चेतावनी दी गयी—"चाची से बचकर रहना, करौंदे का झाड़ है।" इस चेतावनी में कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। मैंने स्वयं उसे कई-कई दिन तक लगातार मोरचा लेते देखा था। वह लड़ती थी और खम ठोंककर पेशेवर लड़ाकू की तरह लड़ती थी। इसलिए डर मुझे भी था लेकिन नौ साल तक उसका पड़ौसी बनकर रहने में एक बार भी ऐसा अवसर नहीं आया कि वह कभी हमसे रूठी हो। पहले दिन जिस प्रकार हँसती इठलाती हुई आयी थी और माँ से घण्टों प्यार से बातें करती रही थी, अन्तिम दिन भी जब मैं इस्तीफा देकर वहाँ से चला तो वह सकपकायी, घबड़ाती दौड़ती हुई आयी और बोली—"अब नहीं आयेगा ?"

"चाची, क्या करूँ, सेहत खराब रहती है।"

"नहीं, नहीं बेटा ! लगी नौकरी नहीं छोड़ा करते।"

"सो तो ठीक है, चाची।"

"न, ना, कुछ दिन रह आ। सेहत ठीक हो जायेगी। कहीं ऐसे जाया करते हैं। पगला।···" और जब मैंने घर में ताला लगाकर ताली उसे दी तो वह रुँधे कण्ठ से बोली—"अच्छा लौट आना। मेरा बेटा देख तो···।"

और फिर आँखों में आँसू। मैं देखता रह गया। इन नौ सालों में कितना कुछ इस रूढ़ि जर्जर नारी से मैंने पाया। जब भी बीमार पड़ता दौड़ी हुई आती और घण्टों बैठी रहती। अकेला होता तो दवादारू का प्रबन्ध करती। पास आकर सोती और पेट पकड़े फिरती। स्वस्थ रहने पर न आती हो सो बात नहीं। जब तब आती और डाँटने लगती—"ऐं रे, गैर समझ रखा है। मर्द होकर चूल्हा फूंके है। अरे तू तो हमारे घर का खा ले है। तू क्यों मरे है। तेरी माँ भक्तानी-शुक्लानी है। तू तो समाजी है।"

मैं झिझकता—"चाची, बात यह है कि एक दिन का हो तो···"

तुरन्त बात काट देती—"अरे जा, जा, तू तो एक दिन भी नहीं खाता ··"

और वह घर जाकर ढेर सारा सामान ले आती—लड्डू, कचौरी और न जाने क्या-क्या······

खिलाने-पिलाने में उसे रस आता था। अपनी बहुओं को वह खूब डाँटती। बेटों से पिटवाती। अक्सर रात को बड़ी बहू की चीख-पुकार से मुहल्ला काँप उठता लेकिन फिर भी यह प्रसिद्ध था—'चाची की बहुएँ राज करती हैं। सोने से पीली हो रही हैं। खाने-पीने को इतना है कि राजा तरसे।' सामन्तवादी समाजशास्त्र को जानकर चाची पीटकर भी उन्हें खूब खिलाती थी। खूब मोल-तोल करके वह उन्हें लायी थी। न जाने कितनी बार उसने वह कहानी सुनायी थी—"अरे बेटा, हम लोगों में ऐसा ही होय है। हजार नाक पर मारे तब फेरे दिये सगी ने। क्या करूँ बेटा! यों मेरा बेटा अड़ गया, शादी करूँगा तो इसी से···"

फिर बड़े जोर से हँसती—"तुझे क्या बताऊँ बेटा! बड़ा है न? उसकी बात बड़ी बेटी से पक्की करी थी। कुन्दन की डाली थी पर काली थी। बेटा अड़ गया। इससे शादी करेगी तो रेल की पटरी पर सो जाऊँगा। सो बेटा, पाँच सौ और दिये और इस गोरे भैंसे को लायी। अब तुझसे क्या बताऊँ, देखने की है बस। न खाक का सऊर, न धेले का सलीका। बेटे जने तो मर-मर जाय हैं। तभी पिटे है···।"

और जो बात हँसी से शुरू होती उसका अन्त रोने से होता। लेकिन उसका रोना हमेशा दुःख से भरा होता हो सो नहीं। कभी वह दर्द भरे गर्व से भी रो पड़ती और ऐसा तभी होता जब वह अपने स्वर्गीय पति की कहानी सुनाती। एक दिन क्रोध और आँसुओं से रुँधे स्वर में वह बोली—"आप तो चला गया पर मुझे डुबा गया, बेटा! इतना पैसा था सब लुटा दिया?"

मैंने पूछा—"किसे लुटा दिया?"

"जो भी आता, खुशामद करता, उसी को कर्ज दे देता और वापस न माँगता। मैं पीछे पड़ती तो कह देता—'अब जाने भी दे, गरीब है, कहाँ से देगा।' मैं कहती, "ओहो, बड़ा गरीब है, तो वह हँस देता—माँगने वाले गरीब ही होते हैं···।"

और यहाँ आकर चाची के आँसू और भी तेज हो जाते। उन्हें आँचल से सुखाती हुई वह कहती—"उस जैसा कोई हो तो। लुटा गया। कभी किसी ने लेकर दिया नहीं। दूकान से हर कोई पान ले जाता, क्या मजाल जो उस

भलेमानस ने कभी पैसे माँगे हों। जो दिये सो लिये। हिसाब की बात चली तो हँस दिया।

फिर मौन, कुछ सुबकियाँ, फिर रुँधा स्वर—"तभी सारा शहर उसे चाहे था। अरथी के साथ भीड़ सी भीड़ थी, जो सुनता दौड़ा आता जैसे कोई अपना ही चल बसा हो…।"

लेकिन जिन रुपयों को वह पति से न बचा सकी उन्हें बेटों से बचाना भी उसके वश में नहीं था। यूँ बचाने की पूरी कोशिश वह करती थी, जानती थी कि उसके पास होंगे तो बेटे छोड़ेंगे नहीं, सो मेरी मां के पास जमा कराती रहती। कहती—"जिठानी ! बेटों ने मुझे खा लिया। पैसा नहीं छोड़ते। सब मरे जाने अपने बाप के ऊपर गये हैं। लेकिन मैं भी मैं हूँ, एक पाई नहीं दूँगी। मैं तो तीरथ करने जाऊँगी। नरक में पड़ी हूँ।"

और जब वे रुपये सौ की गिनती पार कर जाते तो एक दिन चाची चीखती-चिल्लाती भागी हुई आती—"जिठानी रुपये दे तो।"

"क्यों क्या तीर्थ करने जा रही है ?"

"अरे कर लिए तीरथ ! ऐसे भाग कहाँ जिठानी !"

"तो फिर रुपये क्या करेगी ?"

"करती क्या ? बड़ा धरना दिये बैठा है। पता नहीं जिठानी दूकान की कमाई का क्या करे। घर का खर्च मैं चलाऊँ और जब दिल्ली जावे मुझे लूट-खसोट कर ले जावे।"

और रोती पीटती, बकती झकती, सब रुपये बेटों को सौंप देती। बेटे शायद यह जानते भी नहीं थे कि कहाँ और कितने रुपये जमा हैं। बस, वे अपना रोना रोते और माँ लपक कर जिठानी के पास पहुँच जाती। अपने बेटों के लिए ही वह पेट की पतली हो सो बात नहीं। वह आतंक के लिए प्रसिद्ध थी फिर भी वह किसी से दूर नहीं थी। आज जिसका सत्यानाश करने पर तुल जाती, दो दिन बाद उसी से दोहरी होकर बात करती। ओडे-टेले में, ब्याह-शादी में, आगे रहती। अपना नेग लड़-झगड़ कर लेती पर उसी के बाद उसी तरह लुटा भी देती। कोई कष्ट में हो, चाची उसके पास मौजूद है। किसी के साथ अन्याय हो, तो चाची उसकी वकालत ही नहीं पैरवी भी करने को

तैयार है। हमें भी जब तब रुपयों की जरूरत होती तो वह कहती—"अरे तो जिठानी ! तेरे पास ही तो रखे हैं। ले क्यों नहीं लेती ?"

माँ कहती—"मैं ब्याज दूँगी।"

सुनकर वह खूब हँसती, खूब हँसती दोहरी हो जाती—"ब्याज देगी। जा, जा, जिठानी ब्याज देगी।"

यूँ वह ब्याज पर रुपये न देती हो सो बात नहीं। उससे कर्ज लेने वाले कम नहीं थे। ब्राह्मण कर्ज लेते, बनिये कर्ज लेते; मुसलमान कर्ज लेते, कहार, भंगी सभी कर्ज लेते, और वह सबसे खूब झगड़ती, तकाजे करती, लड़ती। एक दिन क्या देखता हूँ, काफी तेज झगड़े के बाद चाची क्रोध से बड़बड़ाती मेरे पास आकर बैठ गयी। मैंने पूछा—"क्या हुआ चाची, कौन था ?"

"था कौन, वही मनुआ कहार था।"

"रुपये माँगने आया होगा ?"

"माँगे तो तब जब पहले दे। मरे ने एक पाई तक नहीं दी। देख तो कितने होंगे ?"

और कहते-कहते एक कागज उसने मुझे थमा दिया। जैसी चाची वैसा ही जीर्ण-शीर्ण वह कागज। कहीं पेन्सिल से लिखा, कहीं सरकण्डे की कलम से, कहीं होल्डर से। अंक वैसे ही अस्पष्ट। बहुत माथा-पच्ची पूछताछ के बाद पता लगा कि उस कहार पर पाँच सौ से अधिक रुपये हो गये थे। मैं विस्मत सा देखता रह गया—"पाँच सौ से ऊपर हैं चाची !"

"वही तो।"

"इतने रुपये हो गये !"

"देख ले और देने का नाम नहीं। लूट खाया मुझे इन नाशपीटों ने। नाश जाय इनका। नींद हराम कर दी। दस साल से लिये जा रहा है···।"

और कागज हाथ में लेकर उसे फाड़ डाला। मैं हठात् बोल उठा "अरे, अरे, यह क्या करती हो ?"

"करती क्या ? वह देगा थोड़े ही। अब इसे रखकर क्यों जी जलाऊँ ?"

"देगा क्यों नहीं ? लिये हैं तो देगा, इन्कार तो नहीं करता।"

"इन्कार तो नहीं करता पर अब क्या देगा। दस साल से लिये जा रहा

है। दस साल से आदमी बढ़े, बीमारी-सीमारी बढ़ी पर आमदनी वही, फिर ऊपर से दारू पीने की लत। ये देने के लच्छन हैं ? मैंने कर्ज लिया होगा।"

"तुमने कर्ज लिया ?" विस्मित विमूढ़ मैंने कहा।

"हाँ पिछले जन्म में लिया होगा, वही तो चुका रही हूँ।"

और उस कागज को खूब फाड़कर बकती-झकती चाची वहाँ से चली गयी और मैं सोचता बैठा रह गया कि आखिर इस आतंक और अविद्या के साथ इस अनपढ़ी अटपटी सहानुभूति का क्या नाता है ? प्रेम का पौधा क्या जहालत की कीचड़ में ही पनपता रहता है ?

शरीर जर्जर, सामाजिक चेतना जर्जर, कुरीतियों में पनपी, अन्धविश्वासों में पली, जिसे शत्रु मान लिया उसे मिटा दिया, जिससे मित्रता की उसे निभा दिया, खरे के साथ खरी, खोटे के साथ खोटी, सदा पराजित और मुसीबत जदा का साथ देने वाली, सदा आगे रहने को, ऊपर रहने को, कुछ करने को, कुछ देने को आतुर। आज भी हँसी से दोहरी होती या क्रोध से तमतमाती उसकी काया आँखों में उभर आती है तो मनुष्य चरित्र की अद्भुतता मुखर हो उठती है।

५

तीन सौ चौबीस

उपेन्द्रनाथ अश्क

मोटर अड्डे पर आकर रुकी। कुलियों की दुनिया में हलचल मच गयी। बैठे हुए खड़े हो गए, खड़े दौड़ पड़े, मानो धन की वर्षा हो गयी हो, कोई स्वर्गीय विभूति उनके मध्य में आ गिरी हो। मिनटों में मैले, फटे, जर्जर कपड़े पहने बीसियों कुली मोटरों को घेरकर खड़े हो गये। बहुतों ने अपने पीतल के नम्बर भी मोटर में फेंक दिये।

मोटर में बैठे हुए मिस्टर वाल्टन और उनका छोटा-सा कुनबा पीतल के टुकड़ों की उस वर्षा से घबरा उठा। दूसरे क्षण कुमारी वाल्टन तुनककर मोटर में खड़ी हो गयी। उसकी युवा आँखों में क्रोध के डोरे दौड़ गये, रोष से मुख सुर्ख हो गया। उसने सब नम्बरों को उठाया और कुलियों के मुँह पर दे मारा। एक पीतल का नम्बर वाल्टन साहब की गोद में पड़ा था। उसे उठाते हुए ज्योंही कुमारी वाल्टन ने फेंकने के लिए हाथ उठाया कि एक कुली—सुन्दर, युवा, बलिष्ठ—दूसरों को हटाते हुए मिस वाल्टन के सामने आ खड़ा हुआ—कुछ बेपरवाह-सा, कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा, कुछ व्यथित-सा। युवती की सरोष आँखें उसकी करुण आँखों से चार हुईं। उसने नम्बर नहीं फेंका, और चुप अपनी जगह पर बैठ गयी। कुली और समीप आकर मोटर के पास खड़ा हो गया। साहब अपनी पत्नी को लेकर दूसरे दरवाजे से उतर गये।

कुमारी वाल्टन ने सिर से पाँव तक उस कुली को देखा और दूर तक निगाह दौड़ायी। इन चीथड़ों में लिपटे हुए आधी नंगी टाँगों और भुजाओं वाले कुलियों में, जिनके पैरों में सेर-डेढ़ सेर की बेडौली-सी चप्पल पड़ी हुई थी और घुटनों तक मैल चढ़ा हुआ था, जिनके चेहरों की आकृति शुष्क और सख्त थी और जिनकी आँखों के पपोटे धूल से स्याह हो रहे थे—इन सब कुलियों में कौन उस-जैसा

दिलेर, कौन उस-जैसा सुन्दर, कौन उस-जैसा बलिष्ठ था। उसने देखा, कुली की गोरी-गोरी बाहों पर ज्यादा बोझ उठाने के कारण मछलियाँ पड़ गयी हैं और नीली-नीली नसें फूल उठी हैं। उसके सिर पर टोपी नहीं थी। गले में एक साफ, लेकिन आस्तीन और गरेबाँ की कैद से स्वतन्त्र, कुर्ता पड़ा हुआ था।

"टुमारा नाम ?"

"३२४"

"नम्बर नहीं, नाम।"

"हैदर।"

'हैडर। कितना बोझ उठा सकेगा ?"

"बहुत काफी, मिस साहब !"

ड्राइवर ने दरवाजा खोला। कुमारी वाल्टन खट-खट नीचे उतर गयी।

"वह प्यानो उठा सकेगा ?" उसने मुस्कराते हुए कहा।

हैदर ने अपनी दृष्टि उस ओर उठायी और मुख पर बिखरे हुए बालों की लटों को परे हटाया। दूसरे मोटर में वह बड़ा प्यानो रखा था और चार-पाँच कुली उसे नीचे उतारने का प्रयास कर रहे थे।

उसने उत्तर दिया—"हाँ, उठालूँगा।"

यह कहते समय उसे प्यानो के वजन का ध्यान आया, किन्तु इसके साथ ही उसकी आँखों के सन्मुख अपने घर की बेबसी की तस्वीर खिंच गयी। साथ ही, उसे अपनी बात का भी ध्यान आया। अब इन्कार कर उस सुन्दर लड़की की नजरों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था। वह आगे बढ़ा।

सुरीली तानें अलापने वाला प्यानो, जिसके लिए कुमारी वाल्टन एक कमरा अलहदा कर दिया करती थी, उतारकर धरती पर रख दिया गया और दो-तीन 'हातो'* उसे उठाने के लिए तैयार हुए।

"इसे यह कुली उठायेगा" कुमारी वाल्टन ने आगे बढ़कर कहा।

साहब ने हैदर पर नख से शिख तक दृष्टि डाली और बोले—"यह अकेला !"

"हाँ।" और मुस्कराती हुई हैदर की ओर देखकर कुमारी वाल्टन बोली—"क्यों, उठायेगा अकेला ? हम ईनाम बी डेगा।"

---

*शिमला में कश्मीर और नाहन के कुली 'हातो' कहलाते हैं।

हैदर का सीना फूल उठा—"हाँ, मिस साहब !"

'हाँ' कहकर 'न' कहना जवानी ने कभी नहीं सीखा।

"टीन माईल जायेगा ?"

"ले जाऊँगा।"

"हम टुम्हें बहुट ईनाम डेगा।" और उत्सुक नजरों से कुमारी वाल्टन उस बलवान कुली की ओर देखने लगी। देखते-देखते हैदर ने प्यानो के इर्द-गिर्द रस्सा लपेट लिया। जो हातो उसे उठाने के लिए आगे बढ़े थे, पीछे हट गए। दो आदमियों की सहायता से हैदर ने प्यानो पीठ पर लाद लिया। उसकी कमर दोहरी हो गयी, माथे पर पसीना आ गया। अपनी छोटी-सी लठिया के सहारे वह चल पड़ा।

"मर जायेगा।" एक हातो ने कहा।

पौं-पौं करती हुई दूसरी मोटर गाड़ी आ खड़ी हुई और सब उसकी ओर दौड़ पड़े।

कुमारी वाल्टन वहाँ खड़ी-की-खड़ी रह गयी। वह सोच रही थी—इतना बड़ा प्यानो, जिसे चार आदमी कठिनाई से उठा पाते हैं इस अकेले हैदर ने उठा लिया। यह योरप में होता तो बोझ उठाने के रिकार्ड मात करके सहस्रों रुपये कमा लेता। उसके युवा हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। परन्तु यह सहानुभूति उसके फटे कपड़ों, उसके व्यथित मुख, उसकी बेबसी को देखकर नहीं पैदा हुई थी। वह उस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती थी जहाँ ये बातें सहानुभूति खरीदने के बदले उपेक्षा मोल लेती हैं। पर बहादुर से सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में—वह हृदय चाहे अँग्रेज रमणी का हो अथवा भारतीय का।

रिक्शा उसके समीप आकर खड़ी हो गयी। वाल्टन साहब ने तीन रिक्शाओं के लिए आर्डर दिया था। कुमारी वाल्टन सबसे अगली रिक्शा में बैठ गयी, उससे पिछली में उसकी माँ। सबसे अन्तिम रिक्शा में साहब स्वयं बैठे। पाँच-सात कुली दूसरा सामान उठाकर साथ-साथ चलने लगे।

वाल्टन साहब रिटायर्ड इंजिनीयर थे। पेन्शन मिलती थी। कुनबा भी बड़ा नहीं था, मजे से बसर होती थी। शिमले में उन्होंने दो-तीन कोठियाँ बनवा ली थीं। किराया भी आ जाता था। उनकी निजी कोठी का नाम

'कैनमौर कॉटेज' था। वह छोटे शिमले से जरा दूर एक सुरम्य जगह में बनी हुई थी। आगे छोटी-सी वाटिका थी। अपना फुरसत का समय वाल्टन साहब भाँति-भाँति के पौधे लगाने में विताते थे। उन्हें इसमें बड़ा आनन्द मिलता था। कभी कभी उनकी पुत्री भी इस काम में हाथ बँटाती। उसे अपने ही अनुरूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। एक माली भी रखा हुआ था, परन्तु वह सर्दियों में बगीचे की देखभाल करता। गर्मियों में साहब स्वयं दिल्ली से आ जाते, तब उनका काफी समय अपने बगीचे में ही बीतता।

कुमारी वाल्टन को प्यानो में कमाल हासिल था। जहाँ एक-दो महीनों के लिए जाना होता, वहीं उसे वह ले जाती। वह प्यानो उसने खासतौर पर विलायत से मँगवाया था। साधारण प्यानों से वह तिगुना बड़ा था। सुरीला इतना था कि जब कुमारी वाल्टन का मीठा स्वर उससे मिल जाता तब सोने पर सुहागा हो जाता। सर्दियों में वह छोटा कुनबा दिल्ली चला जाता और गर्मियों में शिमले आ जाता।

हैदर साँस लेने के लिए रुका। शिमले में सड़कों के किनारे सीमेंट के चबूतरे बने हुए हैं ताकि कुली लोग वहाँ बोझ रखकर सुस्ता लिया करें। कुमारी वाल्टन अपने विचारों में मग्न थी। हैदर को रुकते देखकर रिक्शा से कूद पड़ी। साहब और उनकी पत्नी उससे बहुत आगे निकल चुके थे। उसने हैदर से कहा—"क्यों ठक गया, कहा ठा मट उठाओ। टुम ठक जायेगा, लेकिन माना नहीं।"

हैदर बिना विश्राम किये फिर चल पड़ा। किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना!

"शाबाश" कुमारी वाल्टन उसके साथ चलती हुई बोली—"टुमने हमको बहुट खुश किया। अगर टुम आराम लिये बिना इसे बँगला टक ले गिया तो हम टुम्हें बहूट इनाम डेगा, जो माँगेगा वह डेगा।"

बाएँ हाथ में लठिया पकड़ उसके सहारे रुककर हैदर ने दाएँ हाथ से मस्तक से पसीना पौंछा और चल पड़ा। उसके पाँव मन-मन भर के हुए जाते थे। उसके समस्त शरीर से पसीना छूट रहा था। अपनी जिन्दगी में उसने अभी तक इतना बोझ नहीं उठाया था। किन्तु मिस साहब प्रसन्न हो गयी थी। यदि वह इस प्यानो को वहाँ तक पहुँचा देगा तो वह अवश्य ही उसे दो-तीन

रुपये देंगी। हो सकता है उसे अपने यहाँ नौकर ही रख लें। तब तो उसका जीवन बन जाय, वह अमीना को सुख दे सके। अपनी उस प्यारी अमीना को जिसने उसके लिए अमीरी से गरीबी मोल ले ली, अपने धनवान माता-पिता को छोड़कर सुख-भोग को लात मारकर जो उसके साथ हो ली थी। किस तरह अमीना उसके साथ भाग गयी थी और किस तरह कैद से बचाने के लिए उसने भरी अदालत में उसके साथ रहने का प्रण किया था। सब वे दिन, वे रातें, वे घड़ियाँ, वे पल, दुःख के, सन्तोष के—कल की बात की नाईं याद थे। वह कमाता था अमीना को सुख देने के लिए। अपनी उसे कुछ परवाह न थी। वह सोचता यदि मेरे पास कुछ रुपया होता, कुछ थोड़ा-बहुत ही, तो अमीना को लेकर फिर कहीं दूर किसी छोटे से कस्बे में कोई दुकान कर लेता। लेकिन रुपया आता कहाँ से ? अमीना के साथ भागने के बाद उसकी रही-सही पूँजी भी उड़ गयी थी, और विवश होकर उसे फिर श्रमजीवी बनना पड़ा था। वह दिन में दो रुपया कमा लेता। उसके शरीर में शक्ति थी, भुजाओं में बल था। कश्मीर और नाहन के हातो भी उसे बोझ उठाते देखकर दंग रह जाते। अमीना कहती—"मुझे तुम्हारे साथ सूखी रोटी पसन्द है। तुम बहुत कष्ट न सहा करो।" परन्तु वह उसकी बातों पर कान न देता। उसे एक ही धुन थी, एक ही लगन थी, कुछ रुपया-पैसा पैदा करना और बस उसके बाद इस पेशे को सदैव के लिए छोड़ देगा। अमीना उसके कपड़े धो देती। जब वह सन्ध्या को थककर आता तब उसके पाँव दबाती। सहस्रों व्यय करने पर भी ऐसी पति-परायणा स्त्री न मिलती। वह उसे पाकर भी सुखी न था। जब वह देखता कि उसकी अमीना उस अँधेरे में सारा दिन बन्द रहने से पीली हुई जा रही है, तब उसका हृदय खून के आँसू रोता। वह उसे शीशमहलों में, मरमर के प्रासादों में, रेशमी वस्त्रों में आवृत रखना चाहता था, पर उसकी आकाँक्षाएँ उस बेपर पंछी की आशाओं की तरह थीं, जो गहरे खड्ड में गिरकर ऊपर पहाड़ की चोटी पर उड़ना चाहता हो। हैदर ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। बोझ के कारण उसका सीना दुख उठा। उसे ज्ञात था, इस समय जब वह बोझ उठाये चला जा रहा है, अमीना भी काम करती होगी। उसने गलीचा बुनना सीखा था। दोनों कुछ रुपया पैदा करना चाहते थे, जिससे कोई काम कर सकें। उन्हें आशा थी कि इस वर्ष के बाद तक उनके पास छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ करने के लिए पर्याप्त धन हो जायेगा।

हैंदर सोच रहा था—"कौन जाने यह लड़की प्रसन्न होकर मुझे अपने यहाँ किसी काम पर नौकर रख ले ? उस सूरत में मेरी अभिलाषा बहुत जल्दी पूरी हो जायेगी। अभी हमें कमरे का किराया देना पड़ता है और खर्च भी बहुत होता है। फिर रोटी और रिहायश का गम न रहेगा। थोड़ा-बहुत सरमाया जमा कर लेंगे और तब किसी छोटे-से नगर में जाकर बसेंगे। मैं हूँ और अमीना का अटूट प्रेम और बस। इस भाँति यह जीवन-लीला समाप्त हो जाय। पर यह प्यानों वहाँ पहुँच भी सकेगा ? यदि वह सुस्ता लेता, तो शायद पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील चलना सर्वथा असम्भव है। मोटरों के अड्डे से सड़क पर आते-आते ही उसके प्राण सूख गए थे। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। उसने सोचा, प्यानो रख दूँ।

उसी समय कुमारी वाल्टन ने कहा—"शाबाश हैडर, शाबाश ! टुम प्यानों को बँगला टक पहुँचा गया, टो बहुट ईनाम डेगा। डस रुपया डेगा, वीस रुपया डेगा।"

सुनकर हैदर के मुर्दा शरीर में जान पड़ गयी। आशा ने फिर संजीवनी का काम किया—वह फिर चल पड़ा।

वह रिक्शा छोड़कर उसके साथ चली आ रही थी। तेरह-चौदह वर्ष की आयु, पतली-सी कमर, शरीर के साथ चिपटा हुआ फ्रॉक, लम्बा कद, ऊँची एड़ी के कारण उठे हुए छोटे-छोटे पाँव, गोरी बाँह, तीखे नक्श और मुख पर उत्सुकता। इस तरह चली आ रही थी, मानो हैदर को नहीं, उसे ही इनाम जीतना हो। वह सोचती, कितना बहादुर है। यह ! यह पुरुष जहाँ भी जायेगा, नाम पायेगा। सेना में भर्ती हो जाता, तो अब तक कप्तान बन जाता। फुटबाल खेलता, तो कोई उसका मुकाबला न कर सकता। इतना बोझ ! इसे उठाना ही बड़ा काम है, फिर इसे उठाकर तीन मील चलना। उसने हैदर की ओर एक स्नेहभरी दृष्टि डाली। वह उसे अपना सब-कुछ दे दे। इस बहादुर कुली पर निसार होने के लिए उसका हृदय बेताब हो उठा।

एक साहब थे ब्राउन। अपनी ताकत का बड़ा दम भरते थे। उसे खयाल आया, यदि उनको यह प्यानो उठाना पड़े, तो कचूमर ही निकल जाए। इस विचार के आते ही उसके लाल अधरों पर मुस्कराहट दौड़ गयी।

"शाबाश हैडर" उसने हैदर को रुकते हुए देखकर कहा और फिर ध्यान

में मग्न हो गयो। कभी-कभी कोई व्यक्ति हैदर को अकेले इतना बड़ा प्यानो उठाये और अँग्रेज युवती को उसके साथ इस भाँति जाता देखकर आश्चर्य से एक क्षण के लिए खड़ा हो जाता और फिर अपनी राह चला जाता।

छोटे शिमले का डाकखाना आ गया था। हैदर को टाँगें जवाब देती हुई प्रतीत हुई, उसे अपने हवास गुम होते हुए दिखायी दिये। बस, इससे आगे वह न जा सकेगा। इतनी दूर तक ही वह कैसे आ गया। वह इसी पर विस्मित था। अब आगे न जाया जायेगा। उसके पाँवों में शक्ति ही नहीं, उसके शरीर में जान ही नहीं। उसकी आँखें बन्द-सी हुई जाती थीं। उसे अपने स्वप्नों के समस्त गढ़ गिरते हुए प्रतीत हुए।

उस समय कुमारी वाल्टन की मीठी, मधुर, मादक सहानुभूति से युक्त जीवनदायिनी आवाज सुनायी दी।

"हैडर, ठक गया ? बस डो फर्लांग और टुम जीट जायेगा।" लेकिन हैदर नहीं हिला।

कुमारी वाल्टन को अपनी कल्पनाओं का प्रासाद गिरते दिखायी दिया। यदि हैदर वह बाजी न जीत सका, तो यह सब श्रद्धा, जो उसके हृदय में उसके लिए पैदा हुई थी, उड़ जायेगी। उसने फिर एक बार कहा—

"हैडर, हम टुम्हारे लिए सब-कुछ करेगा, टुम्हें सेना में भर्टी करा डेगा, टुम्हें नौकर रख लेगा, टुम्हें प्यार करेगा। बस, डो फर्लांग, बक-अप, बक-अप !" और हैदर चल पड़ा, जैसे कुमारी वाल्टन के स्वर में बिजली का असर हो।

बँगला आ गया। माली और नौकरों ने दौड़कर उसका स्वागत किया। एक ने हैदर को बोझ तले दबे हुए देखकर उसे सहारा देना चाहा। हैदर ने सिर के इशारे से उसे हटा दिया। उसे बँगले के आ पहुँचने का मद्धिम-सा ज्ञान था और अब यहाँ तक आकर अपने किये-कराये पर पानी नहीं फेरना चाहता था। उसकी टाँगों में स्फूर्ति आ गयी। वह तेज चलने लगा। मंजिल के समीप पहुँचकर पथिक की चाल तेज हो भी जाती है।

बंगले पर पहुँचकर कुमारी वाल्टन सीधे उस कमरे में गयी, जो प्यानो के लिए रिजर्व था। हैदर विजयी की भाँति सीधा खड़ा हो गया, उसका मुख चमक उठा। साहब दूसरे कमरों में असबाब रखवा रहे थे। कुमारी वाल्टन ने नौकरों

को इधर-उधर जाकर उनका हाय बँटाने को कहा । उसी क्षण हैदर का सिर चकराया और वह कौच पर बैठ गया ।

अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया और गाउन से बटवा निकालकर बीस रुपए के नोट उसके हाथ पर रख दिये । किन्तु नोट गिर पड़े। कुमारी वाल्टन ने सशंक नेत्रों से उसकी ओर देखा । हैदर की आँखें खुली हुई थीं और उसका शरीर अकड़ गया था ।

कुमारी वाल्टन हैरान-सी, भौचक्की-सी, निर्निमेष नजरों से उसकी ओर ताकती रह गयी ।

उस समय नौकर ने एक पीतल का टुकड़ा अन्दर फेंका ।

"मिस साहब ! यह नम्बर रिक्शा में ही रह गया था ।"

कुमारी वाल्टन ने दौड़कर उठा लिया । मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था "३२४" । "पुअर हैडर" कहती हुई उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ी और उसकी आँखें सजल हो गयीं ।

६

गूंगे

रांगेय राघव

[१

'शकुन्तला क्या नहीं जानती ?'

'कौन ? शकुन्तला ? वह कुछ भी नहीं जानती ।'

'क्यों साहब ! क्या नहीं जानती ? ऐसा क्या काम है जो वह नहीं कर सकती ?'

'वह उस गूंगे को नहीं बुला सकती ।'

'अच्छा ! बुला दिया तो ?

'बुला दिया !'

बालिका ने एक बार कहने वाली की ओर द्वेष से देखा और चिल्ला उठी—दूँदे ।

गूंगे ने नहीं सुना । तमाम स्त्रियाँ खिलखिला कर हस पड़ीं । बालिका ने मुँह छिपा लिया ।

जन्म से वज्र-बहरा होने के कारण वह गूंगा है । उसने अपने कानों पर हाथ रख कर इशारा किया । सब लोगों को दिलचस्पी पैदा हो गयी , जैसे तोते को राम-राम कहते सुनकर उसके प्रति हृदय में एक आनन्दमिश्रित कुतूहल उत्पन्न हो जाता है ।

चमेली ने उंगलियों से इंगित किया—फिर ?

मुँह के आगे इशारा करके गूंगे ने बतलाया—भाग गयी । कौन ? फिर समझ में आया । जब छोटा ही था तब माँ, जो घूंघट काढ़ती थी, छोड़ गयी। क्योंकि बाप, अर्थात बड़ी-बड़ी मूँछें, मर गया था । और फिर उसे पाला है—किसने यह तो समझ में नहीं आया पर वे लोग मारते बहुत हैं ।

करुणा ने सबको घेर लिया। वह बोलने की कितनी जबर्दस्त कोशिश करता है। लेकिन नतीजा कुछ नहीं, केवल कर्कश कांय-कांय का ढेर, अस्फुट ध्वनियों का वमन, जैसे आदिम मानव अभी भाषा बनाने में जी-जान से लड़ रहा हो।

चमेली ने पहली बार अनुभव किया कि यदि गले में काकल तनिक ठीक नहीं हो तो मनुष्य क्या-से-क्या हो जाता है। कैसी यातना है कि वह अपने हृदय को उगल देना चाहता है, किन्तु उगल नहीं पाता।

सुशीला ने आगे बढ़कर इशारा किया—मुँह खोल। और गूंगे ने मुँह खोल दिया। लेकिन उसमें कुछ दिखायी नहीं दिया। पूछा—गले में कौआ है? गूंगा समझ गया। इशारे से बता ही दिया—किसी ने बचपन में गला साफ करने की कोशिश में काट दिया। और वह ऐसे बोलता है जैसे घायल पशु कराह उठता है। शिकायत करता है जैसे कुत्ता चिल्ला रहा हो, और कभी-उसके स्वर में ज्वालामुखी के विस्फोट की-सी भयानकता थपेड़े मार उठती है। वह जानता है कि वह सुन नहीं सकता और बताकर मुस्कराता है। वह जानता है कि उसकी बोली को कोई नहीं समझता। फिर भी बोलता है।

सुशीला ने कहा—इशारे गजब के करता है। अक्ल बहुत तेज है। पूछा—खाता क्या है, कहाँ से मिलता है?

वह कहानी ऐसी है जिसे सुनकर सब स्तब्ध बैठे हैं। हलवाई के यहाँ रात भर लड्डू बनाये हैं; कढ़ाई माँजी है, नौकरी की है, कपड़े धोये हैं; सबके इशारे हैं; लेकिन—

गूंगे का स्वर चीत्कार में परिणत हो गया। सीने पर हाथ मारकर इशारा किया—हाथ फैलाकर कभी भीख नहीं माँगा, भीख नहीं लेता। भुजाओं पर हाथ रखकर इशारा किया—मेहनत का खाता हूँ और पेट बजाकर दिखाया—इसके लिए, इसके लिए...।

अनाथ-आश्रम के बच्चों को देखकर चमेली रोती थी। आज भी उसकी आँखों में पानी आ गया। वह सदा से ही कोमल है। सुशीला से बोली—इसे नौकर भी तो नहीं रखा जा सकता।

पर गूंगा उस समय समझ रहा था। वह दूध ले आता है। कच्चा मँगाना हो तो थन काढ़ने का इशारा कीजिये; औटा हुआ मँगाना हो, हलवाई जैसे

एक बर्तन से दूध दूसरे बर्तन में उठाकर डालता है, वैसी बात कहिये। साग मँगाना हो गोल-मोल कीजिये या लम्बी उँगली दिखाकर समझाइये···और भी ···और भी···

और चमेली ने इशारा किया—हमारे यहाँ रहेगा ?

गूंगे ने स्वीकार तो किया, परन्तु हाथ से इशारा किया—क्या दोगी ? खाना ?

हाँ !—चमेली ने सिर हिलाया।

'कुछ पैसे ?'

चार उँगलियाँ दिखा दीं। गूंगे ने सीने पर हाथ मारकर जैसे कहा—तैयार है। चार रुपये !

सुशीला ने कहा—पछताओगी। भला ! यह क्या काम करेगा ?

मुझे तो दया आती है बेचारे पर—चमेली ने उत्तर दिया—न हो बच्चों की तबियत बहलेगी।

[२]

घर पर बुआ मारती थी, फूफा मारता था, क्योंकि उन्होंने उसे पाला था। वे चाहते थे कि बाजार में पल्लेदारी करे, बारह-चौदह आने कमा कर लाये और उन्हें दे दे। बदले में वे उसके सामने बाजरे-चने की रोटियाँ डाल दें। अब गूंगा घर भी नहीं जाता। यहीं काम करता है। बच्चे चिढ़ाते हैं। कभी नाराज नहीं होता। चमेली के पति सीधे-सादे आदमी हैं। पल जायगा बेचारा। क्रिन्तु वे जानते हैं कि मनुष्य की करुणा की भावना उसके भीतर गूंगेपन की प्रतिच्छाया है, वह बहुत कुछ करना चाहता है, किन्तु कर नहीं पाता।

इसी तरह दिन बीत रहे हैं।

चमेली ने पुकारा—गूंगे !

किन्तु कोई उत्तर नहीं आया। उठकर ढूंढ़ा—कुछ पता नहीं लगा।

बसंता ने कहा—मुझे तो कुछ नहीं मालूम।

'भाग गया होगा'—पति का उदासीन स्वर सुनायी दिया। सचमुच वह भाग गया था। कुछ भी समझ में नहीं आया। चुपचाप जाकर खाना पकाने लगी। क्यों भाग गया ? नाली का कीड़ा। एक छत उठाकर सिर पर रख दी

फिर भी मन नहीं भरा। दुनिया हँसती है। हमारे घर को अब अजायब घर का नाम मिल गया है···किसलिए···

जब बच्चे और वे भी खाकर उठ गये तो चमेली बची रोटियाँ कटोरदान में रखकर उठने लगी। एकाएक द्वार पर कोई छाया हिल उठी। वह गूंगा था। हाथ से इशारा किया—भूखा हूँ।

काम तो करता नहीं भिखारी—फेंक दी उसकी ओर रोटियाँ; रोष से पीठ मोड़कर खड़ी हो गयी। किन्तु गूंगा खड़ा रहा। रोटियाँ छुयी तक नहीं। देर तक दोनों चुप रहे। फिर न जाने क्यों गूंगे ने रोटियाँ उठा लीं और खाने लगा। चमेली ने गिलासों में दूध भर दिया। देखा, गूंगा खा चुका है। उठी और हाथ में चिमटा लेकर उसके पास खड़ी हो गयी।

कहाँ गया था ?—चमेली ने कठोर स्वर में पूछा।

पर कोई उत्तर नहीं मिला। अपराधी की भाँति सिर झुक गया। सड़ से आता। एक चिमटा उसकी पीठ पर जड़ दिया। किन्तु गूंगा रोया नहीं; वह अपने अपराध को जानता था। चमेली की आँखों से दो बूंदें जमीन पर टपक गयीं। तब गूंगा भी रो दिया।

और फिर यह भी होने लगा कि गूंगा जब चाहे भाग जाता, फिर लौट आता, उसे जगह-जगह नौकरी करके भाग जाने की आदत पड़ गयी थी। और चमेली सोचती कि उसने उस दिन भीख ली थी या ममता की ठोकर को निस्संकोच स्वीकार कर लिया था ?

बसंता ने कसकर गूंगे के चपत जड़ दी। गूंगे का हाथ उठा और न जाने क्यों अपने-आप रुक गया। उसकी आँखों में पानी भर आया और वह रोने लगा। उसका रुदन इतना कर्कश था कि चमेली को चूल्हा छोड़कर उठ आना पड़ा। गूंगा उसे देखकर इशारों से कुछ समझाने लगा। देर तक चमेली उससे पूछती रही। उसकी समझ में इतना ही आया कि खेलते-खेलते बसंता ने उसे मार दिया था।

बसंता ने कहा—अम्मा ! यह मुझे मारना चाहता था।

क्यों रे ?—चमेली ने गूंगे की ओर देख कर कहा। इस समय भी नहीं भूली थी कि गूंगा कुछ सुन नहीं सकता। लेकिन गूंगा भाव-भंगिमा से समझ

गया। उसने चमेली का······हाथ पकड़ लिया। एक क्षण को चमेली को लगा जैसे उसी के पुत्र ने आज उसका हाथ पकड़ लिया था। एकाएक घृणा से उसने हाथ हटा लिया। पुत्र के प्रति मंगल-कामना ने उसे ऐसा करने को मजबूर कर दिया।

कहीं उसका भी बेटा गूंगा होता तो वह भी ऐसे ही दुःख उठाता। वह कुछ भी नहीं सोच सकी। एक बार फिर गूंगे के प्रति हृदय में ममता भर आयी। वह लौटकर चूल्हे पर जा बैठी, जिसमें अन्दर आग थी, लेकिन उसी आग से वह सब पक रहा था जिससे सबसे भयानक आग बुझती है—पेट की आग, जिसके कारण आदमी गुलाम हो जाता है। उसे अनुभव हुआ कि गूंगे में बसन्ता से कहीं अधिक शारीरिक बल था। कभी भी गूंगे की भाँति शक्ति से बसन्ता ने उसका हाथ नहीं पकड़ा था। लेकिन फिर भी गूंगे ने अपना उठा हाथ बसन्ता पर नहीं चलाया।

रोटी जल रही थी। झट से पलट दी। वह पक रही थी, इसी से बसन्ता, बसन्ता है···गूंगा गूंगा है···

चमेली को विस्मय हुआ। गूंगा शायद यह समझता है कि बसन्ता मालिक का बेटा है, उस पर वह हाथ नहीं चला सकता। मन-ही-मन थोड़ा विक्षोभ भी हुआ, किन्तु पुत्र की ममता ने इस विषय पर चादर डाल दी। और फिर याद आया, उसने उसका हाथ पकड़ा था। शायद इसीलिए कि उसे बसन्ता को दण्ड देना ही चाहिए, यह उसको अधिकार है······

किन्तु वह तब तक समझ नहीं सकी, और उसने सुना गूंगा कभी-कभी कराह उठता था। चमेली उठकर बाहर आयी। कुछ सोचकर रसोई में लौट आयी और रात की बासी रोटी लेकर निकली।

गूंगे ! उसने पुकारा।

कान के न-जाने किस पर्दे में कोई चेतना है कि गूंगा उसकी आवाज को कभी अनसुना नहीं कर सकता। वह आया। उसकी आँखों में पानी भरा था, जैसे उनमें एक शिकायत थी, पक्षपात के प्रति तिरस्कार था। चमेली को लगा कि लड़का बहुत तेज है। बरबस ही उसके होठों पर मुस्कान छा गयी। कहा—ले खा ले। और हाथ बढ़ा दिया।

गूंगा इस स्वर की, इस सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता । वह हँस पड़ा । अगर उसका रोना एक अजीब दर्दनाक आवाज थी तो यह हँसना और कुछ नहीं—एक भयानक गुर्राहट-सी चमेली के कानों में बज उठी । उस अमानवीय स्वर को सुनकर वह भीतर-ही-भीतर काँप उठी । यह उसने क्या किया था ? उसने एक पशु पाला था, जिसके हृदय में मनुष्यों की-सी वेदना थी ।

[३]

घृणा से विक्षुब्ध होकर चमेली ने कहा—क्यों रे तूने चोरी की है ?

गूंगा चुप हो गया । उसने अपना सिर झुका लिया । चमेली एक बार क्रोध से काँप उठी । देर तक उसे घूरती रही । सोचा—मारने से यह ठीक नहीं हो सकता । अपराध को स्वीकार कराके दण्ड न देना ही शायद कुछ असर करे । और फिर कौन मेरा अपना है । रहना हो तो ठीक से रहे, नहीं तो फिर जाकर सड़क पर कुत्तों की तरह झूठन पर जिंदगी बिताये, दर-दर अपमानित और लांछित······

आगे बढ़कर गूंगे का हाथ पकड़ लिया और द्वार की ओर इशारा करके दिखाया—निकल जा ।

गूंगा जैसे समझा नहीं । बड़ी-बड़ी आँखों को फाड़े देखता रहा । कुछ कहने को शायद एक बार होठ भी खुले किन्तु कोई स्वर नहीं निकला । चमेली वैसे ही कठोर बनी रही । अबके मुँह से भी साथ-साथ—जाओ, निकल जाओ, ढंग से काम नहीं करना है तो तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं; नौकर की तरह रहना है रहो, नहीं बाहर जाओ ; यहाँ तुम्हारे नखरे कोई नहीं उठा सकता, किसी को भी इतनी फुर्सत नहीं है; समझे ?

और फिर चमेली आवेश में आकर चिल्ला उठी—मक्कार बदमाश ! पहले कहता था भीख नहीं माँगता, और सबसे भीख माँगता है ; रोज-रोज भाग जाता है, पत्ते चाटने की आदत पड़ गयी है ; कुत्ते की दुम क्या कभी सीधी होगी ? नहीं, नहीं रखना है हमें, जा तू इसी वक्त निकल जा······

किन्तु वह क्षोभ, वह क्रोध, सब उसके सामने निष्फल हो गये, जैसे मन्दिर की मूर्ति कोई उत्तर नहीं देती, वैसे ही उसने भी कुछ नहीं कहा । केवल इतना समझ सका कि मालकिन नाराज है और निकल जाने को कह रही है । इसी पर उसे अचरज और अविश्वास हो रहा है ।

चमेली अपने आप लज्जित हो गयी। कैसी मूर्खा है वह ? बहरे से जाने क्या-क्या कह रही थी ? वह क्या कुछ सुनता है ?

हाथ पकड़कर जोर से एक झटका दिया और उसे दरवाजे के बाहर धकेल कर निकाल दिया। गूंगा धीरे-धीरे चला गया। चमेली देखती रही।

करीब घण्टे भर बाद शकुन्तला और बसन्ता दोनों चिल्ला उठे—अम्मा ! अम्मा !!

क्या है ?—चमेली ने ऊपर से ही पूछा।

गूंगा—बसन्ता ने कहा। किन्तु कहने से पहले ही नीचे उतरकर देखा—गूंगा खून से भीग रहा था। उसका सिर फट गया था। वह सड़क के लड़कों से पिटकर आया था, क्योंकि गूंगा होने के नाते वह उनसे दबना नहीं चाहता था···दरवाजे की दहलीज पर सिर रख वह कुत्ते की तरह चिल्ला रहा था।

और चमेली चुपचाप देखती रही, देखती रही, कि इस मूक अवसाद में युगों का हाहाकार भरकर गूंज रहा है।

[४]

और ये गूंगे···अनेक-अनेक हो, संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में छा गये हैं ; जो कहना चाहते हैं, पर कह नहीं पाते ; जिनके हृदय की प्रतिहिंसा न्याय और अन्याय को परखकर भी अत्याचार को चुनौती नहीं दे सकती ; क्योंकि बोलने के लिए स्वर होकर भी, स्वर में अर्थ नहीं है, क्योंकि वे असमर्थ हैं।

और चमेली सोचती है—आज दिन ऐसा कौन है जो गूंगा नहीं है ? किसका हृदय समाज, राष्ट्र, धर्म और व्यक्ति के प्रति विद्वेष से, घृणा से नहीं छटपटाता; किन्तु फिर भी कृत्रिम सुख की छलना अपने जालों में उसे नहीं फाँस देती—क्योंकि वह स्नेह चाहता है, समानता चाहता है।

७

सुदामा के चावल

हरिशंकर परसाई

[कृष्ण से मनमानी सम्पत्ति प्राप्त करके विप्र सुदामा अपने भवन में आराम से रहने लगे। उन्हें कोई काम तो करना नहीं पड़ता था, इसलिए पण्डितानी से लड़ने और जम्हाई लेने के बाद भी जो समय बचता, कुछ लिख-पढ़ लेते, उसमें से संस्मरण और डायरी के कुछ भाग अब मिल गये हैं। उसमें से कृष्ण-भेंट वाला प्रसंग यहाँ उद्धृत किया जाता है—लेखक]

···लोगों की टीका-टिप्पणी से मैं तंग आ गया। लोग मुझे चैन क्यों नहीं लेने देते? कहते हैं कि कृष्ण ने पूजा के कोष का धन उठाकर अपने मित्र को दे दिया। कृष्ण ने ऐसा क्या अनुचित किया, जो मुझे थोड़ा धन दे दिया। राज-पद पाकर कौन अपने भाई-भतीजों और मित्रों का भला नहीं करता? कुछ लोग तो मुझे ही मूर्ख कहते हैं। कहते हैं कृष्ण ने मेरे दो मुट्ठी चावल खाकर मुझे दो लोक दे दिये थे, पर मैंने मूर्खतावश वापस कर दिये। कल प्रातःकाल मैं भवन के बाहर मैदान में दातौन चबाता घूम रहा था—मुझे एक प्रहर तक दातौन करने की आदत है क्योंकि किसी तरह समय तो काटना है। सामने से ब्राह्मण देवदत्त अपने किसी परदेशी बन्धु के साथ निकला और मेरी ओर संकेत करके उससे कहने लगा, "यह वही मूर्ख सुदामा है, जिसे कृष्ण ने दो लोक दे दिये थे, पर इसने वापस कर दिये।" सुनकर मेरे अंग-अंग में आग लग गयी पर मैं क्रोध पी गया। क्या करता? मैंने ही तो यह बात फैलायी थी और मनुष्यों की बुद्धि को इस युग में क्या हो गया है? किसी ने यह नहीं कहा कि हे मिथ्यावादी सुदामा, यदि कृष्ण हर मिलने वाले को एक-दो लोक दान में देते हों, तो प्रतिदिन हजारों लोक बाँटते होंगे। पर लोक तो तीन ही हैं और

मथुरा तीनों लोकों से न्यारी है। और हे मिथ्यावादी ब्राह्मण, तू यदि यह कहे कि केवल तू ही उनसे मिलने गया, तो यह भी झूठ है। जब कोई राजधानी जाता है, तब ऊँचे पदों पर बैठे अपने हर परिचित से मिल आता है। फिर कृष्ण बहुत हँसमुख और मिलनसार हैं; उसे नृत्य-संगीत नाट्य का शौक है और उसके आस-पास कलावन्त सुन्दरियों का जमघट रहता है। जिस राज-नेता के आस-पास सुन्दरियों का गुच्छा होता है उसे मिलने वालों का टोटा नहीं पड़ता।

किसी ने ऐसी शंका नहीं की। और युगों तक यह बात मानी जायेगी कि कृष्ण ने मेरे दो मुट्ठी चावल खाकर मुझे दो लोक दे दिये, पर मैंने बाद में उन्हें लौटा दिया; पर आज मैं सत्य बात लिख देना चाहता हूँ। जिससे 'निरवधि काल और विपुला पृथ्वी' में कोई कभी इन पृष्ठों के आधार पर विश्व से कह सकेगा कि मुट्ठी चावल और दो लोक वाली बात झूठ है; सुदामा ने कृष्ण से दान नहीं लिया; उसने परस्पर सुभीते के लिए सौदा किया था।

मैं जब द्वारका के लिए चला, तब ब्राह्मणी ने पड़ोसिन से एक पाव चावल उधार लेकर मेरे गमछे में बाँध दिये। वह जानती थी कि राजपुरुष बिना भेंट लिए किसी का कोई काम नहीं करते। मेरे घर में एक पाव चावल भी न हों, ऐसी बात नहीं थी; पर ब्राह्मणी जानती थी कि राजपुरुष उधारी या चोरी के माल से बहुत प्रसन्न होते हैं।

कृष्ण ने मुझे स्नेह से पास बिठाया और मेरी काँख से दबे गमछे को खींचा, उलट-पलट कर देखा। उसमें चावल का एक दाना भी नहीं था। कृष्ण ने मेरी ओर बड़े अचरज और खीझ से देखा और कहा, "कहाँ गये चावल? तुमने फिर कपट किया। मैंने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था कि भाभी ने मेरे लिए गमछे में चावल बाँध दिये थे।"

मेरा मन हुआ कि कह दूँ कि हे मेरे राजमित्र, जिस दृष्टि से तुम मित्रों की पत्नियों को पति के गमछे में चावल बाँधते देखते रहते हो, उससे लोगों की गरीबी और भुखमरी क्यों नहीं देखते। पर कुछ सोचकर मैं चुप रहा।

कृष्ण चावल खाने के लिए बहुत उत्सुक था। उसका आग्रह प्रेम के कारण कम था, इस कारण अधिक था कि आस-पास चित्रकार लोग चावल खाते हुए महाराज का चित्र खींचने के लिए तैयार खड़े थे। चित्र खींचकर नीचे लिखा जाता, "दीनबन्धु एक दीन के चावल खाते हुए।"

"नहीं।" मैंने कहा।

"तो फिर कहाँ गये ?" उसने हठ किया।

मैंने कहा,"नहीं बताऊँगा। मैं वचनबद्ध हूँ।"

"किससे वचनबद्ध हो ?"

"तुम्हारे रक्षक विभाग के अधिकारी से। उसने कहा है कि यदि तुम यह सब मामला महाराज को बताओगे, तो तुम्हारी ब्राह्मणी विधवा हो जायेगी।

कृष्ण हँसा। पूछा, "कैसा मामला ? मित्र, तुम मुझे बताओ तो। मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। मैं तुम्हें अपने व्यक्तिगत रथ में घर सकुशल पहुँचाऊँगा।"

आश्वासन पाकर मैंने कहा, "अच्छा, बतलाता हूँ। पर पहले राज्य शासन में मैं तुम्हारी परीक्षा लेता हूँ। बतलाओ, 'खुरचन' किसे कहते हैं और अच्छे शासन में इसका क्या महत्त्व है ?"

कृष्ण मेरी ओर मूढ़ की तरह देखने लगा। बोला, "मैंने तो यह शब्द ही नहीं सुना।"

मैंने कहा, "आश्चर्य है। शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण नीति को नहीं जानते और शासन करते हो।"

कृष्ण ने उतावली से कहा, "पर तुम पहले चावल की बात तो बताओ।"

तब मैंने पूरी घटना सिलसिलेवार सुनायी जिसे यहाँ लिखता हूँ :

माँगते-खाते मैं द्वारका नगरी पहुँचा। नगरी का वैभव देखकर चकित रह गया। सारा धन सिमटकर द्वारका में आ गया था और सारी विद्या इकट्ठी हो गयी थी। बड़े-बड़े कलावन्त, पण्डित, कवि और गायक राजधानी में आकर बस गये थे क्योंकि यहाँ राज-पुरस्कार खूब बँटते थे। इनमें मुझ दीन ब्राह्मण को कौन पूछता ? मैंने नगरी के बाहर ही, बिना नहाये, मस्तक पर चन्दन लगा लिया था, इसलिए नागरिक पूछने पर, कम से कम, मार्ग बता देते थे।

पूछते-पूछते मैं कृष्ण के महल के सामने पहुँच गया। वहाँ एक कर्मचारी से मैंने कहा, "भाई, मुझे महाराज से मिलना है।" उसने मुझे ध्यान से देखा और सम्भवतः टालने के लिए कहा, "उस बायें बाजूवाले कार्यालय में जाओ। वहाँ पूछताछ के पश्चात् जब अनुमति मिलेगी, तब जा सकोगे।"

कुछ सोचकर उसने पुनः कहा, "तुम भाई क्यों कहते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "मनुष्य मनुष्य को 'भाई' ही तो कहेगा।" उसने मुझे समझाया, "बहुत भोले हो। आगे किसी राज-कर्मचारी को भाई मत कहना। वह मनुष्य होने में अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। उसे 'देवता' कहना चाहिए।"

मैंने उसकी बात की गाँठ बाँध ली और उस विशाल कार्यालय के द्वार पर पहुँचा। वहाँ कितने ही कर्मचारी बैठे थे जिनमें से अधिकांश गप-शप कर रहे थे। वे अपने स्थान से उठते और पास के जलपान-गृह में जाकर बैठ जाते। मैं समझा कि इन सबको यही करने के लिए ही राज्य से वेतन मिलता है।

मैं बड़ी देर तक खड़ा रहा। फिर साहस बटोर भीतर घुसा। एक कर्मचारी ने बड़े कड़े स्वर में कहा, "ए, कहाँ घुसा आता है ? यह धर्मशाला नहीं है। उधर जाओ, वहाँ धर्मशाला है और सदावर्त बँटता है।" उसने अँगुली से दक्षिण दिशा की ओर संकेत किया।

मैंने कहा, "देवता, मुझे महाराज से मिलना है।"

कर्मचारी हैरत से मुझे देखता ही रहा। फिर ठहाका मारकर हँसा और बोला, "विप्रदेव, तुम गलत जगह आगये। यह पागलखाना नहीं है।"

मैंने कहा, "भगवन्, मेरे कृश शरीर और फटे वस्त्रों पर मत जाओ। मेरे होश-हवाश दुरुस्त हैं। मैं विक्षिप्त नहीं हूँ। मुझे वास्तव में महाराज कृष्ण से मिलना है।"

इतने में कई कर्मचारी आकर मुझे घेरकर खड़े हो गये। उनमें से एक कहने लगा, "बड़ी ऊँची आकांक्षाएँ हैं आपकी विप्रदेव ? क्या काम है आपको महाराज से ?"

मैंने कहा, "वे मेरे मित्र हैं, सहपाठी हैं।" इस पर वे सब एक साथ हँस पड़े।

एक बोला, "वाह, महाराज को आप ही साथ पढ़ने के लिए मिले ?"

दूसरा कहने लगा, "विप्रदेव, आप भाँग-वाँग छानते हैं क्या ?"

तीसरा बोला, "आप किस देश के नरेश हैं ?"

मेरे संकट के मारे शरीर और दरिद्रता से छिन्न वस्त्रों को देख-देखकर

वे उपहास करते रहे। मैं ग्लानि से मरा जा रहा था। चाहता था कि पृथ्वी फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ। दीनबन्धु के सेवकों का कैसा व्यवहार था, एक दीन के प्रति !

इसी समय कार्यालय के दूसरे छोर से एक दबंग कर्मचारी चिल्लाया, "अरे, कुछ 'खुरचन' का सिलसिला भी है या यों ही मिलने चला आया है।" चारों ओर से 'खुरचन खुरचन' की आवाजें लगने लगीं।

'खुरचन' मेरे लिए नया शब्द था। मैंने कहा, "भाई, खुरचन मैं नहीं जानता। शब्दकोष में तो यह शब्द नहीं है। किसी काव्य और दर्शन में भी यह नहीं आया। यह सम्भवत: शासन का कोई विशेष शब्द है। मैं जानता हूँ कि अच्छे शासन कुछ शब्दों और आँकड़ों के बल पर चलते हैं।

उनमें से एक, जो सयाना था, कहने लगा, "ब्राह्मण देवता, राज-दरबार में आये हो, और शासन की नीति नहीं जानते ? तुम तो 'खुरचन' तक नहीं समझते।"

मैंने बड़ी नम्रता से कहा, "बन्धु, मैं तो ग्रामवासी हूँ। शासन हमारे पास केवल कर वसूल करने पहुँचता है। भला राजधानी की रीति-नीति मैं कैसे जान सकता हूँ ? हमारे ग्रामों में तो दूध उबाल लेने के बाद जो मलाई कढ़ाही में चिपकी रहती है, उसे खुरच लेते हैं और उसी को 'खुरचन' कहते हैं।"

वह बोला, "ठीक इसी तरह से शासन की कढ़ाही में जो मलाई चिपकी रहती है उसे हम खुरचते हैं, और उसे हम भी 'खुरचन' कहते हैं।"

मैं तब भी नहीं समझा। उन सबको मेरे ऊपर दया-सी आयी।

सयाना बोला, "तुम समझे नहीं विप्रदेव ? हमारा मतलब है, यह भी एक मन्दिर है। कुछ भेंट वगैरह तो लाये ही होंगे। महाराज से क्या बिना भेंट के मिलोगे ? हमारा भी तो कुछ हिस्सा होगा।"

मैं अड़चन में पड़ गया। मुझे चुप देख एक कर्मचारी कहने लगा, "तुम्हारी काँख में दबी पोटली में क्या है ब्राह्मण देवता ? स्वर्ण है ?"

मैंने चावल की पोटली और कसकर दबा ली।

सयाना कर्मचारी बोला, "क्या है उसमें ? खोलो उसे ?"

मैं घबराया। यदि चावल इनके सामने खुल गये, तो ये मेरा बड़ा उपहास करेंगे। मैं जड़ हो गया।

तभी वह रक्षक-विभाग का अधिकारी आगे बढ़ा। उसका बलिष्ठ शरीर, कठोर मुख और बिच्छू के डंक जैसी मूँछें देखकर मैं काँप गया। उसने कर्कश स्वर में कहा, "अरे, दो धप्प लगाओ, अभी बता देगा यह बम्हन का बच्चा।

मैं काँप उठा। मैंने झट पोटली खोल दी। चावल देखकर वे सब हैरत में पड़ गये। एक दूसरे की ओर देखने लगे। एक बोला, "यह ब्राह्मण पागल है। भला कोई चावल लेकर महाराज से मिलने जायेगा ?"

अब तक वह दबंग कर्मचारी वहाँ आ गया था। उसने कहा, "भई इसमें कुछ भेद है। ये साधारण चावल नहीं मालूम होते। भला कोई महाराज के लिए साधारण चावल लायेगा ? ये ब्राह्मण लोग बड़े रहस्यमय होते हैं। कई तरह के तन्त्र-मन्त्र करते रहते हैं। ये चावल मन्त्रों से सिद्ध किये मालूम होते हैं, जो महाराज को देने जा रहा है।"

मैंने सोचा कि इस भ्रम की बाँह पकड़कर कृष्ण के पास पहुँच सकता हूँ। मैंने कहा, "ग्यारह रात्रि और दिन निरन्तर मन्त्रोच्चार करके चावल सिद्ध किये हैं।"

"क्या गुण हैं इनमें ?"

"मन वांछित फल धन प्राप्ति, स्त्री-सुख, स्वास्थ्य, पुत्र-लाभ, शत्रु-नाश।"

इतना सुनते ही वे सब चावलों पर टूट पड़े। प्रत्येक की कुछ इच्छा थी। कार्यालय में काम बन्द हो गया। सब कर्मचारी वहीं एकत्र हो गये। जो आता, वह एक चुटकी चावल खा जाता।

जब आधी मुट्ठी चावल बचे, तो मैं उन्हें लपेटते हुए बोला, "अब इतने महाराज के लिए रहने दो।" इसी समय एक बड़ा अधिकारी वहाँ आया और डपटकर बोला, "कहाँ ले चले ? मुझे भी खाना है। महाराज को दूसरे चक्कर में ला देना।"

उसने शेष चावल मुँह में डाल दिये।

मैंने खाली अँगोछा झटककर लपेटा और काँख में दबा लिया।

बड़ी-बड़ी मूँछों वाले उस भयावह रक्षक-विभाग के अधिकारी ने एक सेवक को बुलाया और उसे आदेश दिया, "इन्हें महाराज के पास पहुँचा दे।"

मैं सेवक के पीछे चला। चार कदम ही बढ़ा था कि वह मूँछोंवाला आया और मेरा हाथ पकड़कर बोला, "देख बे ब्राह्मण के बच्चे, यदि तूने महाराज को यह चावलवाला मामला बताया, तो तेरी ब्राह्मणी विधवा हो जायेगी।"

उसने हाथ छोड़ा, तो मैं जल्दी-जल्दी महल में चला आया।

यह घटना मैंने कृष्ण को सुनायी। वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया।

मैंने कहा, "तुम राज करते हो या सोते हो ? कैसी धाँधली मची है। तुम्हारे राज-कर्मचारी चावल तक छीन खाते हैं।

कृष्ण ने कहा, "मुझे वास्तव में यह नहीं मालूम था। मैं आज ही जाँच समिति नियुक्त करता हूँ। पर बाहर यह बात तुम किसी को मत बताना। राज्य की बड़ी बदनामी होगी।"

मैं अकड़ गया। मैंने कहा, "मैं ब्राह्मण हूँ—सत्यवादी। प्राण चाहे चले जायें, सत्य नहीं जा सकता। मैं डंके की चोट पर कहूँगा कि राज्य में ऐसा अन्धेर मचा है।"

कृष्ण की हालत बड़ी दयनीय हो गयी। कहने लगा, "देखो, तुम मेरे मित्र हो। क्या मित्र के लिए थोड़ा झूठ भी नहीं बोलोगे ?"

मैंने व्यंग्य से कहा, "अब तुम्हें मित्रता याद आने लगी। पहले नहीं सोचा कि मेरा एक मित्र सुदामा दरिद्रता में दिन काट रहा है।"

कृष्ण ने कहा, "मेरी स्थिति को तुम क्या समझो।" मैं यही नहीं समझ पाता कि कौन मेरा है और कौन पराया। जबसे मुझे यह राज-पद मिला है, असंख्य आदमी मेरे आत्मीय बनकर मेरे पास सहायता के लिए आ चुके। अभी तक बीस सहस्र चाचा, पन्द्रह सहस्र काका, पचीस सहस्र भतीजे, दस सहस्र मौसियाँ और आठ सहस्र चाचियाँ आ चुकीं। अब बताओ, मैं किस-किस का काम करूँ ? और सच पूछो तो मुझे अभी भी विश्वास नहीं है कि तुम वही सुदामा हो, जो मेरा सहपाठी था, क्योंकि आठवें सुदामा तो कल ही आये थे जिन्हें मैंने बाहर से ही लौटा दिया था। तुम न जाने कैसे भीतर घुस आये। आ गये तो कोई बात नहीं, पर मित्रता इत्यादि की बात मत करो; क्योंकि मैं क्या जानूँ कि तुम कौन हो। मैं तुमसे सौदा कर सकता हूँ। तुम्हारे पास राज्य का एक रहस्य है जिसे प्रकट करने, से शासन कलंकित होगा। बोलो, इस रहस्य को गुप्त रखने का क्या लोगे ? यहाँ इसी तरह दे-लेकर मुँह बन्द कर दिया जाता है।"

मैं सोचने लगा। जब मित्रता से सौदे पर बात आ गयी है, तो संकोच त्यागना चाहिए।

मैंने कहा, "अच्छा, ऐसा ही सही । क्या दोगे ?"

"दस सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ ।" वह बोला ।

मैंने बनावटी रोष से कहा, "क्या तुमने मेरा ईमान सस्ता समझा है ?"

"तो एक लाख स्वर्ण-मुद्रा, एक भवन और एक ग्राम ले लो ।"

इस कीमत पर मैंने वेच दिया ।

कृष्ण ने मुझे अपने रथ पर वापस पहुंचाया । लौटकर मैंने दो मुट्ठी चावल और दो लोक वाली बात बनाकर फैला दी । लोग इसी पर विश्वास करते जायेंगे ।

कभी जब ये पृष्ठ प्रकाश में आयेंगे तब यह सत्य प्रकट होगा कि चावल का एक दाना भी कृष्ण को नहीं मिला । चावल तो कर्मचारियों की 'खुरचन' हो गये । यह भी लोग जानेंगे कि मैंने कृष्ण से दान नहीं लिया, सौदा किया था, कुछ काल के लिए ईमान गिरवी रखा था ।

८

देवा की माँ

कमलेश्वर

उसकी माँ दरियाँ बुनती थी और वह बेकार था। दरियाँ बुनने का भी कोई ऐसा बँधा हुआ सिलसिला नहीं था जिसे काम कहा जा सके। कभी कोई अपनी जरूरत से बुनवा लेता और कभी बेजरूरत भी उसे काम देने की नीयत से दे देता, या बरसों का कोई गद्दा, लिहाफ जब जवाब दे जाता, उपल्ला और अस्तर फट जाता और बदरंग नामा भीतर से झाँकने लगता, तो उसे काम में ले आने का एक यही तरीका था कि उसे देवा की अम्मा को दे दिया जाए और वह महीने में, दो महीने में दरी बुनकर दे जाये। मेहनत मजूरी का दाम धीरे-धीरे पटता रहता, क्योंकि कोई धन्धा तो था नहीं कि इस हाथ ले, उस हाथ दे। यही क्या कम था कि जरूरत पड़ने पर उसे कहीं न कहीं से पैसे मिल ही जाते।

यहाँ के ये सारे परिवार एक-दूसरे से बेतरह जलते थे, कुढ़ते थे; पर वक्त की मार ने उनकी जबानों को कुन्द कर रखा था, हर एक की बेबसी ने एक अनदेखे धागे में बड़े ही आश्चर्यजनक रूप में उन्हें बाँध रखा था जिसका कोई सिरा नजर नहीं आता था। यही वजह थी कि जवान होते हुए भी, देवा के बेकार रहने को, लोगों ने बड़ी निस्संग स्वाभाविकता से स्वीकार कर लिया था।

देवा जब अपने चारों ओर नजर घुमाता तो उसे यह सब खलता। खुद अपनी माँ की बेईमानी चुभती, जो दरियों के लिए रूहड़ लेते वक्त, पंसेरी पर आधा सेर ज्यादा लेने की नीयत से, मेल के एवज में साढ़ पाँच सेर के लिए झगड़ती, और इस तरह आधा सेर रूई बचा-बचाकर आठ-दस दरियों के

बाद, एक अपनी निजी दरी बनाकर बेच लेती। वह अपने चारों तरफ जब लोगों को देखता तो उसे लगता कि उनके चेहरे एकदम एकसे हैं, जिन पर नफरत, प्यार, प्रशंसा या निन्दा—कुछ भी तो नहीं उभरती। अजीब सी एक-रसता थी, जैसे सब शंकर से योगी हैं, जो विष पी-पीकर स्थिर से बैठे हैं, आँखें मूँदे।

इसीलिए वह घर से भागा-भागा रहता। मौलवी साहब के अस्तबल में लगे शास्त्री के छापाखाने में बैठा रहता, वहाँ की एकरस आवाज से जब मन ऊबता तो ठाकुर की इमली के नीचे वाले चबूतरे की महफिल में पहुँच जाता। कस्बे-भर की सनसनीपूर्ण खबरें उसे शास्त्री के छापाखाने में मिलती रहतीं और सरकार के कारनामों की सूचनाएँ ठाकुर की महफिल में जमा होने वाले बेसिक और नार्मल स्कूल के अध्यापकों और पण्डितों से मिलतीं। इन दोनों ही जगह उसे ऐसे आदमी दिखायी पड़ते थे जो अपनी बातों और अपने स्वार्थों से अलग-से होकर आसपास और दूर-दूर के सुख-दुःख और संघर्ष के प्रति जिन्दा दिखायी पड़ते थे—यहाँ आकर जैसे वह अपने को भुला बैठता और बहुतों की पाँत में शामिल हो जाता। इसीलिए कभी-कभी अनचाहे—बिना सोचे, उसे देर हो जाती। सुबह से आ जमता तो बातों में वक्त का अन्दाज न रहता। दोपहर चढ़े जब घर पहुँचता तो दिल छोटा होने लगता, ख्याल आता—इतना वक्त बेकार बरबाद कर दिया, इससे अच्छा होता कि अम्मा के काम में हाथ बटाता और कुछ न यही तो रूहड़ ही नोचता, जिससे धुनकने के लिए डाली जा सकती या सूत की लच्छियाँ ही बनाता जिससे रँगने में आसानी होती। घर में घुसता, बरामदे में ही अड्डा सजा होता, सूत का जाल पुरा होता और रंगीन सूत की पिंडियाँ इधर-उधर लुढ़कती होतीं, कसने वाला हत्था एक ओर पड़ा होता और अम्मा बैठी सूत कातती होती या रूहड़ नोचती होती। आहट सुनकर बिना उसकी ओर देखे उठती और कोठरी में घुस जाती। डिबिया में से लम्बी जंजीर वाली घड़ी निकालती, घड़ी हथेली पर रखती तो जंजीर हथेली के उस पार झूल जाती; उसे कुछ क्षण देखती—एकटक-जैसे सुइयों की गिनती पढ़ने में उसे कुछ याद आता हो···।

और तभी देवा का मन भर आता, अपनी बेपरवाही और उदासीनता पर पश्चात्ताप होता। सोचता, आखिर माँ भी तो घर में अकेली पड़ी रहती है, कहीं आती-जाती नहीं। क्या उसका दिल नहीं भटकता होगा? फिर माँ पर

कुछ झुँझलाहट भी होती कि यह कुछ बोलती क्यों नहीं, देर से आने पर डाँटती क्यों नहीं, कुछ पूछती क्यों नहीं ? पर वह नहीं पूछती । जैसे सब स्वीकार कर लिया हो । लेकिन तभी उसे लगता कि वह कितने पीड़ित मौन से सब कुछ पूछ लेती है । जब कोठरी में घड़ी देखने जाती है, तो शायद वह अपने से ही उत्तर माँगती है कि देवा अब तक कहाँ रहा ? और फिर उसके बाद सुइयों पर नजर गड़ाकर कुछ कहती है कि देखो, तुम्हारा देवा कैसा हो गया, मेरा कुछ भी ख्याल नहीं रखता, क्या इसकी उम्मीद भी छोड़ दूँ ?

और तब देवा की आँखें नम हो जातीं, वह अपने को सारी बातों का जिम्मेदार पाता । उसे पिता की याद आती, जिसे उसने देखा तो था, पर कभी महसूस नहीं किया ।

माँ कोठरी से निकलती, आसन बिछाती और खाना परोस कर देवा को आवाज देती, "आ देबू जरा पानी रख ले दो गिलास ··"

तब देवा को पता चलता कि माँ भी बिना खाए बैठी रही है, कहता, "अम्मा तुम खा लेतीं न, मैं जरा मास्टर जी के पास गया था । उनके हाथ में पचास-साठ की नौकरी तो रहती ही है । शायद अब के स्कूल खुलने पर कुछ ख्याल कर लें—पर झूठ बोलते उसे कुछ न लगता, कह चुकने के बाद माँ के चेहरे की स्थिरता जैसे उसे धिक्कारती और वह अपने में सिमट जाता··· माँ धीरे से मुस्करा देती और कहती, "रामलाल की एक दरी बनानी है, सूत तो तैयार है, तू कल रँगरेज से रँगवा दे, झटपट निबटा लूँ···"

"अम्मा, घर पर जा रंग लें, बाजार में बहुत दाम पड़ते हैं ।"

"पक्का रंग तो घर पर मैं तैयार कर लूँ, पर कुटाई नहीं होती, और बिना कूटे रंग नहीं चढ़ता । मेरा तो कन्धा बेकार है नहीं तो···"

"अरे कुटाई मैं करूँगा···कल तुम औटकर रंग बना देना, फिर सब मेरा का···"

और दूसरे दिन देवा जब उठता तो खुद जाकर चूल्हा सुलगाता और कहता, "अम्मा, पहले रंग औट लो, फिर बैठा मैं कूटता रहूँगा, तब तक तुम खाना बना लेना···"

माँ पतीला चढ़ा लेती, रंग की पुड़िया चूल्हे के पास लाकर रख लेती और पटा डलकर बैठ जाती तो देवा देखता···कुछ देर तो लगेगी ही । जरा

बाहर निकलता, फिर आकर झाँक जाता कि अब माँ ने पानी में रंग डाला या नहीं। फिर निकल जाता और निकलता तो निकल ही जाता। जब वापस आता तो धूप चढ़ आयी होती, दोपहरी तपती होती और माँ पटिया पर सूत रखे, हाँफते-हाँफते कूटती होती। बालों की लटें रूखी-सी झूलती होतीं, बाँहों की नसें सूत सी उभर आतीं और उसके हाथ रंग से बदरंग होते। माँ आहट सुनती तो लच्छियों को तार पर फैलाकर कोठरी में घुस जाती।

इसी तरह दिन बीतते जाते और देवा को कभी यह महसूस भी न हो पाता कि आखिर यह सब कैसे चलता जाता है। माँ किन ख्यालों में डूबी रहती है और क्या सोचती रहती है, और न वह पूछ ही पाता, क्योंकि जब भी पूछने का अवसर आता तो वह घड़ी और उसकी सोने की जंजीर बीच में आ जाती। माँ उदास दिखायी पड़ती और वह स्वयं अपने प्रति असन्तोष से पछताता होता। यदि वह कोशिश भी करता तो साहस न पड़ता···क्योंकि उस घड़ी और उसकी सोने की जंजीर से उसके पिता का इतिहास जुड़ा था, जो कहीं स्टेशन मास्टर थे और वर्षों से दूसरी शादी करके अपने बाल-बच्चों के साथ रह रहे थे। उसने सिर्फ इतना सुना था कि पाँच वर्ष पहले वे कुछ घण्टों के लिए माँ से मिलने आए थे। तब दूसरी शादी कर चुके थे। माँ ने कहीं से उधार लाकर उनके लिये खाना बनाया था, पर उन्होंने खाया नहीं था। उस वक्त पड़ौस की औरतों ने माँ से कहा था कि अपनी और देवा की परवरिश के लिए कुछ माहवार तय कर लेना चाहिए, पर माँ ने यह बात ही नहीं उठायी। चलते वक्त पिता ने माँ से कहा था कि घड़ी की जरूरत पड़ जाती है कभी-कभी, उसे दे दो तो लेता जाऊँ। तो माँ ने जवाब दिया था कि यही एक चीज पास रह गयी है जो देवा को भी उसके वक्त का ज्ञान कराती रहती है। हाँ, यदि सोने की जंजीर की जरूरत हो तो वह ले लें। पर पिता ने बात खुल जाने के कारण और घड़ी माँगने के पीछे जंजीर की असली ख्वाहिश जाहिर होने के कारण, आगे बात नहीं बढ़ायी थी और चले गये थे।

उनके जाने के बाद बगल के मकान की बूढ़ी बातों का पता लगाने आयी थी, क्योंकि उस दिन सभी घरों में यही चर्चा थी···पीछे-पीछे देवा की माँ की बुराइयाँ भी बड़ी ईमानदारी से बयान की जा रही थीं और उससे भी ज्यादा ईमानदारी और चिन्ता ने उसकी सहनशक्ति, सन्तोष और मुसीबतों को दोहराया

जा रहा था। वृद्धा आकर वहाँ बैठी और उसने पूछा था, "क्यों देवू की माँ, बातचीत का कैसा रवैया था उनका ?।"

"वैसा ही था चाची, सचमुच कोई फरक नहीं था···मैं तो समझी थी कि पता नहीं कैसे पेस आएँ, पर सुभाव नहीं बदला। तन से तो एकदम बदल गये हैं। मैं तो पहली नजर में पहचान नहीं पायी, अभी से सामने के दो दाँत बदलवाने पड़ गये हैं।

"अच्छा, बात क्या हुई ? तुम्हारी बातों का क्या जवाब दिया ?

"मैं तो उन्हीं की सुनती रही चाची। बीच-बीच में खामोश हो जाते थे, लगता था कि अपने किये पर उन्हें दुःख हो रहा है, ऐसे में क्या कुरेदती ? कह रहे थे, मन नहीं जमता कहीं। बड़ी देर तक समझाते रहे थे कि क्या-क्या सोच रहे हैं। फिक्रों से परेशान थे···चलते वक्त घड़ी मुझसे जरूर माँगी थी, सो मुझसे देते न बनी···पता नहीं कैसा मोह हो गया है उससे···"

"तो उनकी ये सब फिक्रें और दुख सिर्फ घड़ी के लिए ही था, उसकी जंजीर तो सोने की है न ?" बूढ़ी ने निष्कर्ष निकालते हुए कहा था।

"सो नहीं चाची, उन्हें लेना ही होता तो क्या मैं इन्कार कर पाती ? मैंने कहा था कि चाहें तो जंजीर लेते जाएँ, पर उन्होंने फिर उसकी बात ही नहीं की।"

"हिम्मत नहीं पड़ती होगी, नहीं तो अब वे तुम्हें क्या समझते होंगे ··।"

"ऐसी बात नहीं चाची, उनमें ये सब बातें थीं ही नहीं···आदमी में वैसे भी खोट नहीं होती, उसे कुरस्ता तो औरत ही डालती है। मैं तो घर रहती थी, ये ड्यूटियों पर दौड़ते रहते थे, महीनों बाद आना होता था। वहीं वह मिल गयी और उसने बहका दिया। औरत चाहे तो अच्छे-भले आदमी को उलझाते कितनी देर लगती है ? अगर उन्होंने यह सब समझ-बूझकर ही किया होता तो भला यहाँ आते ? और असल बात यह थी चाची कि मैं उनसे घुल-मिल ही नहीं पायी थी। ससुराल में रहते घर की भीड़-भाड़ और हया-शरम में कभी अपनेपन की बात ही नहीं कर पायी। उन्होंने मुझे जाना ही नहीं और अनजान में जो कर बैठे वह तो हो ही गया···"

"अरे, ऐसे सोचने से काम नहीं चलता, सब ऊँच-नीच देखा करो देबू की अम्मा ? आदमी इतने सीधे नहीं होते। हर बात के पीछे मतलब होता है

इनका···तुम्हें अपनी परवरिश की बात चलानी थी···," बूढ़ी ने बात का तार फिर पकड़ते हुए कहा।

"कहा तो, क्या चलाती···मैं तो सन्तोष किये बैठी हूँ। दो-तीन साल की और देर है, तब तक देवू करने-धरने लायक हुआ जाता है। काहे को कहीं मुँह डालूँ ? देवा की फिक्र थी उन्हें भी, कह रहे थे, वैसे तो अपने पास बुला लेता, पर मेरा भी लगकर रहना नहीं हो पाता, इसीलिए सोचता हूँ, जैसा वहाँ तैसा यहाँ। अगर रहे तो मेरी निगाह के सामने रहे, नहीं तो तुमसे अच्छा और कौन होगा उसके लिए। उसके लिए बड़ी हिदायतें देते रहे थे। कहते थे—तुम्हीं से सब कुछ सीखेगा। आजकल लड़कों को हवा लग जाती है। तुम्हारा डर-खौफ अगर उसके ऊपर से उठ गया तो बिगड़ जायेगा। अपने को सँभाले रहना, जिस घर में जन्मी हो उसका ध्यान रखना। बड़ी ऊँची शान रही तुम्हारे बाबू जी की"···देवा स्कूल से आ ही नहीं पाया था···

बूढ़ी थोड़ी देर बाद उठकर चली गयी थी।

तब से देवा पर उसकी नजरें और भी सतर्कता और प्यार से जम गयी थी। वह देवा को पेट काट-काटकर पढ़ाती रही, और जब वह पढ़-लिखकर बेकार बैठ गया, तब भी वह उसे उसी प्रकार देखती रही। उसके इधर-उधर बैठने को सतर्क नजरों से निहारती रही और जब-जब देर से लौटने पर वह झूठ बोलकर अपने को भुलावा देता रहा तो उसके उस भ्रम को तोड़ने की उसने कभी कोशिश न की। आखिर उसके भ्रम को तोड़कर वह कौन सी सचाई उसे दिखा सकती थी ? इस बात को वह खूब जानती थी।

एक रोज जब वह घर लौटा था तो हमेशा की तरह देर हो गयी थी। उस रोज उसके साथ एक आदमी और था, जिसकी साइकल के पीछे किताबों का ढेर बँधा था और सामने हैंडिल पर लटके झोलों में अखबार भरे थे। उस आदमी की आँखों में एक अजीब सा विश्वास था, और उसके चेहरे पर श्रम की गुरुता की कठोरता थी। देवा दरवाजे पर खड़ा-खड़ा कुछ देर उससे बातें करता रहा और जब भीतर आया था तो उसकी बातों में द्विविधा या झिझक नहीं थी। जैसे मन का गुबार एकदम बाहर छोड़ आया हो और अपनी सार्थकता का अनुभव करने लगा हो, आकर बोला था, "अम्मा तुम खा लिया करो। मेरे इन्तजार में बैठा रहना ठीक नहीं। मेरा तो पैर निकल गया है।"

सुनकर माँ को ऐसा लगा था कि मन में आज तक जो टूटन थी वह शायद भर रही है, पर उसे कुछ दुःख भी हुआ था कि कहीं देवा उसकी तरफ से एकदम बेपरवाह न हो जाये। वह दिन-दिन भर वहशियों की तरह घूमता और रात गये देर तक कुप्पी के प्रकाश में न जाने क्या-क्या पढ़ता। अब देर से आने पर उसे संकोच न होता तो माँ के दिल पर घूँसा-सा लगता। उसे चिढ़ भी होती, दुःख भी होता, और एक अजीब अव्यक्त-सा सुख भी मिलता। उसे लगता कि देवा कुछ अच्छा कर रहा है, पर यह अपनी तरफ से बेपरवाही भी बुरी है।

एक दिन उसे पता लगा था कि देवा राजनीतिक आदमियों के साथ उठने-बैठने लगा है, उनके साथ झोला डाले इधर-उधर घूमता रहता है। अब वह अपने बारे में या घर के बारे में उतना चिन्तित नहीं है जितना कहीं दूर बैठे लोगों या शहर के दूसरे लोगों के लिए है। कभी-कभी रात को भी बाहर रह जाता। मकानों में देवा की चर्चा होती कि वह अखबार बेचने लगा है। नीच आदमियों की तरह घर-घर झाँकता फिरता है और चार पैसे का अखबार पहुँचाता है। चर्चा अगर बुराइयों पर चल पड़ी तो देवा और उसकी माँ को एकदम काला करार दे दिया जाता और कभी अच्छाइयों पर मुड़ गयी तो उसकी जीवनी शक्ति के सामने सब सिर झुका देते।

और वह सोचती—"देवा भी सपनों में उलझा जा रहा है। उसमें जो आग सुलगी है, जो स्थिरता आयी है, वह उसे शक्ति देगी; पर वह दीनदुनिया की नंगी बातें करता है, उसकी बातों में कच्चापन है, पर बचपना नहीं" और माँ को लगता कि "देवा अब निपट अकेला नहीं है, वह बहुतों से अनदेखे रूप में जुड़ गया है।..."

पर यह बात भी उसके दिल में बहुत नहीं जमती, आखिर इससे होना क्या है ? इसलिए सोचते-सोचते बात मुँह से निकल ही पड़ी। देवा अखबार बाँटकर आया था। माँ ने खाते वक्त उससे कहा था, "देवू, तुम्हारा यह अखबार बेचना अच्छा नहीं लगता..."

देवा चुप ही रहा था। जब खाना खाकर चलने लगा तो माँ ने रोककर कहा, "यह पाँच सेर सूत लेते जाओ, सामने तुलवाकर देना, जब आना तब रँगवाकर लेते आना..."

देवा ने सुना और एक झोले में सूत भर लिया। पूछा, "कौन से रंग में रंगेगा ?"

"चार सेर नीला, और एक सेर पीला बाडर के लिए।"

चलते-चलते उसे याद आया तो बोला, "अम्मा, मुझे समय नहीं मिलेगा, तुम मेरा कुरता जरा धोकर डाल देना, इस्तरी मैं कर लूंगा···कल के लिए कोई कुरता नहीं है।" अम्मा ने 'हूँ' की और वह चला गया।

माँ ने कुरते को साबुन से धोकर, कलफ और नील लगाया, तार पर फैलाया और इन्तजार किया, पर देवा नहीं आया। खाना बनाकर बैठी रही, पर वह नहीं लौटा। रात आयी और चली गयी लेकिन देवा के वापस आते पैरों की आहट नहीं सुनायी पड़ी। तुलसी के बिरवे के ऊपर बँधी अलगनी पर उसका कुरता सूखकर सिकुड़ गया, पर वह नहीं लौटा। माँ की आँखों से नींद उड़-कर उसे खोजती रही, लेकिन किसी सूने पहर में भी वह वापस नहीं आया। और माँ ने यह भी स्वीकार कर लिया। अलगनी से कुरता उतारकर, तह कर बक्स में रख दिया। पता नहीं किस वक्त आकर माँग बैठे।

तीसरे रोज पण्डित अपनी दरी माँगने जरूर आये। तब उसने यही कहा था, "छः-सात दिन में पहुँचा दूंगी। देवा को सूत रँगने के लिए दे दिया था, पता नहीं किस रंगरेज के यहाँ डाल आया है। देवा कल-परसों बाहर से वापस आ जायेगा तो दो-चार दिन में बुनके मैं खुद दे आऊंगी, परेशान न हों।"

"कल परसों देवा वापस आ जायगा ? कहाँ की कहके गया है ? वह साल भर से पहले नहीं आता, गिरप्तारी हुई है कि मजाक है···"

"गिरप्तारी·" माँ ने सन्न होकर कहा था।

"आन्दोलन किया है तो सजा भुगतनी ही पड़ेगी···"

सुनकर माँ ने खामोशी साध ली थी। बस इतना भर कहा कि दरी पहुँच जायेगी, जैसे भी होगी।

गली में यह बात फैल गयी थी कि देवा जेल चला गया है, यहाँ से कुछ लोगों के साथ वह करहल तहसील गया था, वहीं गिरपतार हो गया है। सजा एक साल की हुई है, लेकिन दो सौ रुपया जुर्माना भर दे तो आधी सजा कट सकती है। पर उसके साथियों में कोई जुर्माना भरने की बात को ठीक नहीं समझता। देवा ने जुर्म क्या किया है, उसके बारे में किसी को ठीक-ठीक नहीं

पता । जब माँ की समझ में और कुछ नहीं आया था तो वह हताश-सी हो गयी थी । गली के लोग इसलिए भी कोई बात नहीं सुझाते थे कि उन्हें कहीं रुपये का इन्तजाम न करना पड़ जाये । तब वह और किससे कहती ? अकेली बैठती तो देवा के पिताजी का ध्यान बार-बार आता । वे देवा के लिए कितने चिन्तित थे ? सोचा, अगर उन्हें पता चलेगा तो यही कहेंगे कि मुझे खबर तक न दी । आखिर बेटा तो मेरा भी है और कौन करेगा उसके लिए ? जो हुआ सो हो चुका, पर क्या खून और प्यार के फर्ज छूट जाते हैं ?"

तब एक दिन उसने उन्हें चिट्ठी लिखी थी—"देवा करहल तहसील में गिरफ्तार हो गया है । कुछ कहके नहीं गया । थोड़े दिन पहले पण्डित जी से यह खबर मिली है । वे यह भी कहते हैं कि दो सौ रुपया जुर्माना दे दिया जाये तो देवा की आधी सजा कट जायेगी । इतवार की रात को गया था । यहाँ बिलकुल अकेली हूँ, जी नहीं लगता, देवा की वजह से बड़ा सूना लगता है । कुछ काम भी नहीं कर पाती । आप जो पैरवी ठीक समझें, करके उसे छुड़ा लायें । हो सके तो यहाँ होते हुए आप करहल निकल जायें ।

जो आदमी अपने काम से गया था और देवी की माँ का खत ले गया था वह वापस आया तो लिखावट के दो शब्द तक साथ न लाया । जबानी उसने यही बताया था कि स्टेशन मास्टरजी का कहना है कि मुझसे पूछकर और मेरी मर्जी से देवा चलता होता तो मैं अपना सर भी रोपता, उसका क्या ठिकाना, आज छुड़ाया कल फिर चला जायेगा—नौकरी पेशा आदमी हूँ, और ये सब काम करने के लिए वक्त चाहिए, वह कहाँ से लाऊँ··कल ही मुझे दूसरी जगह रिलीव करना है ।

देवा की माँ ने सुना तो पहले विश्वास नहीं आया । सोचा, शायद बेमोके चिट्ठी हाथ में पड़ी हो, पता नहीं दिमाग किन परेशानियों में फँसा हो कि यह तीर खाकर तिलमिला गये हों ? जब ठण्डे दिन से सोचेंगे तो शायद डाक से चिट्ठी डाल दें, या शायद अपने घर की बात बाहर वाले के सामने न करना चाहते हों, तो भी डाक से ही आयेगी । लेकिन महीनों इन्तजार के बाद भी डाक से कोई चिट्ठी नहीं आयी । वह भीतर कोठरी में जाती, घड़ी हथेली पर रखती तो वही जंजीर हथेली के उस पार झूल जाती । पर कोई आता नहीं । घड़ी की सुइयाँ वक्त बदलती जातीं, पर वे सूनेपन की घड़ियाँ स्थिर अडिग

खड़ी थीं। अकेलेपन के पल अमिट हो गये थे, जिन्हें घड़ी की सुइयाँ नहीं हटा पायी···नहीं हटा पायीं···।

इधर पण्डित जी का दरी का तकाजा नाराजी का रूप धारण करता जा रहा था, उधर वह सारा कारवार रोके, हताश उन परछाइयों का इन्तजार कर रही थी जो चलती हैं, बनती हैं, मिटती हैं, पर बोलती नहीं। आखिर एक दिन जब पण्डितजी खरी-खोटी सुना गये और सूत रंगने देने वाली बात को महज बेईमानी और झूठी बात, करार देकर बड़बड़ाते चले गये तो वह आँखों में आँसू भरे चरखा कातती रही। टूटते सूत से सूत जोड़ने की कोशिश करती रही और सिसकती रही···सोचती रही और रोती रही, उसके सूत तो ऐसे बिखर गये थे, जो पकड़ायी में ही नहीं आते थे।

जब अँधेरा झुक आया और घर की बँधी फिजा में ऊब भरने लगी तो वह एक गहरी साँस लेकर उठी थी, चरखे की चरमराहट रुकी तो और भी निस्तब्धता छा गयी थी। वह कोठरी में पहुँची, तब न जाने कौन-सा घाव उघड़ गया कि आँखें अनायास भरभराकर बह उठीं।

और तब अँधेरे में बैठे-बैठे उसके सामने जैसे सत्य उजागर होता गया था···वह अब तक किन परछाइयों पर विश्वास करती आयी···देवा के पिताजी पर वह कितनी बड़ी प्रवंचना थी·· कितना बड़ा धोखा वे देते आ रहे हैं? कितनी सफाई से सारी जिम्मेदारी टाल गये थे·और कितनी खूबसूरती से उसके नारीत्व और पत्नीत्व को तृप्त कर गये थे···इसलिए कि वह कुछ और न सोच सके···वे सिर्फ यही तो चाहते थे कि वह इसी तरह लँगड़ाती, घिसटती और अधूरी रहकर भी पति के आकाशी आदर्श की गरिमा में अपने को धन्य मानती रहे···वह नीचे उतरकर धरती का स्पर्श न करने पाये···कहते थे—देवा पर तुम्हारा ही असर पड़ेगा · और इस बात में उसकी लज्जा को कितनी बड़ी चुनौती दे गये थे, पर तब उसकी आँख पर कौन-सा पर्दा पड़ा था?

और तब वह उस अँधेरी कोठरी से निकली थी। सिन्दूर की डिबिया उसके हाथों में थी और तुलसी के बिरवे पर चाँदनी मुस्करा रही थी। चारों तरफ दूध-सा फैला था और एक अजीब-सी शीतलता थी। वह सिन्दूर की डिबिया हाथ में लिए तुलसी को निहारती रही थी। भीतर बवण्डर सा था। काँपती अँगुलियों से उसने डिबिया खोली थी और सारा सिन्दूर तुलसी की नीली-नीली पत्तियों पर बिखेरकर अपना सुहाग उसे सौंप, सजल नयनों से उस बिरबे

को ताकती रही थी। तुलसी की पंखुरियाँ सिन्दूर मिली दूधिया चमक से जैसे और भी नीली पड़ गयी थीं। और वह तुलसी के घिरुए पर माथा टेके उस निपट अकेली रात में अपने एकाकीपन को सोच-सोचकर खिसिया-खिसियाकर रोई थी, शंका से भर-भर उठी थी, डर से घबराई थी; पर कहीं कुछ था, जो उसे रुलाता था और ढाढ़स बँधाता था, उसकी आँखों में पानी का सैलाब लाता था और सोख लेता था···

उस दिन से उसने माँग नहीं भरी···और कोई चारा न देखकर घड़ी की जंजीर बेचकर रुई खरीद लायी थी। पण्डित की दरी भी बुनकर दे आयी थी।

तब से वह लगातार खरीदी हुई रुई की दरियाँ बुनती रहती, सूत कातती रहती और एक-एक बुनकर सहेज-सहेजकर रखती जाती। किसी का काम मिल जाता तो कर देती, नहीं तो अपने काम में लगी रहती। देवा को बिछुड़े तो इतने दिन हो गये थे कि लगता था वह दूर ही चला गया। जब उसकी बहुत याद आती तो सन्दूक से उसका कुरता निकालती, तह खोलती, उसे देखती और फिर सँभालकर रख देती।

और जब आज साल भर बाद देवा सामने आकर खड़ा हो गया तो माँ का वही चरखा चल रहा था, जिसका हत्था शीशे की तरह चमकने लगा था। वही स्थिरता माँ के चेहरे पर छायी थी जो सहज भक्ति से मिल पाती है और सूत कातते क्षणों की खामोशी—जैसे आराधना का मौन ? देवा ललचाया सा खड़ा देखता रह गया। माँ ने उसका संकोच परखा था। उसे लगा कि अभी वह कुछ वैसी बातें कहेगा जिनमें वही पुराना भ्रम होगा, उसे नौकरी मिल जाने वाली बात जैसी कोई हलकी बात होगी। पर देवा ने वैसी कोई बात नहीं कही तो चरखे की माल पर हाथ फेरती हुई वह उठी और जब उसने नजदीक से देवा को देखा। वह जैसे पक गया था, उसके मुख पर श्रम की आभा थी, कच्चा बचपना कहीं दुबक गया था। सारे प्रश्न और उत्तर अपने आप सहज हो गये। सब सरल था। उसकी आँखों में ममता भर गयी, देबू, आ गया तू ?"

"अम्मा" और रुककर वह बोला था, "बड़ी भूख लगी है।"

"भूख"—उसने कहा।

"साल भर से भूखा हूँ—अम्मा, पूरे एक साल से···"

तब सारा समय सिमट आया, सब स्वाभाविक हो गया। माँ ने खाना परोसा, देवा ने पानी रखा और माँ-बेटे बेवक्त खाने बैठ गये। खाते-खाते देवा ने कहा—"बाबूजी अस्पताल में हैं।"

"क्या हुआ ?" माँ के चेहरे पर सब प्रकृत था।

"मोटर में जान-पहचान का खलासी मिला था। मुझे पहचाना तो उसने बताया था कि बाबूजी को प्लूरिसी हो गयी है। एक बार हालत इतनी खराब हो गयी कि चौबीस घण्टे बेहोश रहे, फिर कुछ हालत ठीक हुई, पर तीन-चार रोज बाद फिर बिगड़ गयी···छोटे अस्पताल से बड़े में चले गये हैं···"

"कब से खराब है ?"

"एक महीने से, कल जाके देख आऊँ ?" देवा बोला।

माँ चुप रही। तीन-चार कौर उसने और खाए, गट-गट पानी पिया और उठ गयी।

शाम गहरी-गहरी उदास थी। देवा का मन हुआ कि इतने दिनों बाद जाकर लोगों से मिल ले। लौटकर आया तो माँ चरखे के तकुए की नोंक पटिया पर घिस रही थी। आज माँ की स्वाभाविक उदासीनता में कुछ कलख थी। उदासीनता की दृढ़ता की जगह खोया-खोया मोह था।

रात को माँ दीये के प्रकाश में बैठी चरखे की रुई साफ करती रही। यह चरखा ही शायद उसका सबसे बड़ा सहारा था। सूत कातते हुए टूटे जोड़ते-जोड़ते अथाह धैर्य और अटूट दृढ़ता उसकी प्रकृति में आ गयी थी। प्रत्येक बार टूटने वाले तार ने उसकी खीझ, झुंझलाहट और असन्तोष को जीत लिया था, जैसे इसी में उसका निस्तार था, यह चर्खा ही उसका गूंगा गुरु था।

रुई साफ करने के बाद शायद वह लेटती, पर चर्खे को खाट के सिरहाने रखकर वह अन्धी अलमारी के पास खड़ी रही। अर्से से रखी हुई चीजों को उठा-उठाकर निहारती रही। कील में लटकते कृष्णजी के कलेण्डर को देखती रही और फिर मोम लेकर चर्खे की माल सूँतने लगी।

एक झपकी के बाद जब देवा की आँख खुली तो देखा, माँ सूत की पूनियों के ढेर के सामने सिर झुकाए बैठी है···मोह का आवरण उसके चारों ओर अदृश्य-सा फैला है और उस अँधियारे में उसकी काया असमंजस में पड़ी है। वह कुछ चाह रही थी—पाना या खोना—पर जैसे न वह पा सकती थी और

न खा सकती थी···वहाँ से उठकर उसने दीये को बुझाया तो देवा ने आँखें मूँद ली, और इस इन्तजार में कि अब माँ लेटेगी, वह खुद सो गया।

सुबह की नरम सर्दी से वह कुछ जल्दी ही जागा। दीवार के मोखे से प्रकाश की रेखा आ रही थी और कोठरी का अँधियारा भूरा-भूरा हो गया था। उसे कुछ शुभ-सा लगा। माँ की खाट खाली थी। कुछ खटका मन में हुआ। उठकर कोठारी की चौखट तक आया।

बाहर आँगन में जैसे पवित्रता छायी थी···हलकी सर्दी और मणि के उजियारे की तरह पावन प्रकाश ? और उस प्रातः के सुरमई आकाश से झरती हुई वह आभामय रोशनी ! जिसमें आँगन का तुलसी का बिरवा किसी विश्वास के अंकुर-सा स्थिर खड़ा था ? उसके घिरुए पर माटी का दीपक जल रहा था, जिसकी अकम्पित लौ में तुलसी की छाया तले सिर टेके, माँ की सिन्दूर भरी माँग चमक रही थी।

अकस्मात् इतने विशाल शुभ को ग्रहण कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर, वह आँखें मूँदकर उस पूर्णता को पा सकने के लिए यन्त्रचालित-सा खाट पर मुँह गड़ाकर लेटा रहा। थोड़ी देर बाद बाहर हुई तो एकाएक वह आँखें न खोल पाया···कहीं अर्थ खो न जाए, पूर्णता लुप्त न हो जाए।

"देबू·· देबू···" माँ ने पुकारा था, "सबेरा हो गया देबू, उठो।"

उठकर वह बाहर आँगन में आ गया और माँ कोठरी में घुसी रही। जब वह बाहर आमौ तो देवा बोला, "अम्मा, हम लोग चलकर बाबूजी को आज ही देख आएँ।

माँ ने ऐसे देखा कि क्या वह सचमुच ही यह बात कह रहा था और क्या उसके लिए भी कह रहा था ? माँ को खामोश देखकर वह बोला, "तुम तैयारी कर लो, अभी सबेरे दस बजे चलकर रात की गाड़ी से वापस आ जायेंगे।"

"मैं नहीं जाऊँगी"—कहते-कहते माँ कमरे की तरफ मुड़ गयी।

"तुम नहीं जाओगी ?" देवा ने जैसे बात समझने के लिए दुहराई।

"नहीं ?" माँ के स्वर में दृढ़ता थी।

"तो मैं चला जाऊँ ?"—देवा सहसा कह गया।

"नहीं।" माँ ने उसी दृढ़ता से कहा और अपने काम में लग गयी।

६

सजा

मन्नू भण्डारी

[१]

पप्पा का कार्ड आया है चाचाजी के नाम—फँसले की तारीख १६ अप्रैल पड़ी है और इस बार निश्चित रूप में फैसला हो जायगा, पहले की तरह स्थगित नहीं होगा। यदि छुट्टी मिल सके और असुविधा न हो तो दिन के लिए आ जाना।

मेरे और मुन्नू के लिए एक लाइन तक नहीं लिखी थी। न प्यार, न आने के लिए कुछ। पूरे साल पप्पा का यह पहला कार्ड था और हमारे विषय में कुछ नहीं लिखा, जैसे उन्हें मालूम ही नहीं हो कि हम भी यहाँ हैं। क्या पप्पा ने अपने को इतना बदल लिया है? उन्होंने क्या बदल लिया है, शायद समय ने उन्हें बदल दिया है। उन्हें ही क्या, सबको बदल दिया। मैं क्या कम बदल गयी हूँ! मुन्नू क्या कम बदला है? पता नहीं, अम्मा की क्या हालत होगी। ओह! इन पाँच सालों में क्या कुछ नहीं हो गया!

१६ अप्रैल, आज से पाँच दिन बाद। मैं जाऊँगी, जरूर जाऊँगी। और मुन्नू को लेकर ही जाऊँगी। कान्त मामा ने तो हर सुनवाई के बाद यही लिखा है कि इस बार फैसला पक्ष में होगा। हे भगवान्! ऐसा ही हो! पर रह-रह कर मन काँप जाता है। पहली बार भी तो सब यही कहते थे। तब मैं एकदम नासमझ नहीं थी, फिर भी ज्यादा नहीं समझती थी। पप्पा और अम्मा तो हमेशा मुझे बच्ची ही समझते थे, इसीलिए शायद बड़ी ही नहीं हो पाती थी। इधर एकदम कितनी बड़ी हो गयी हूँ। कानून की बातें समझने लगी हूँ। सात आदमियों का दोनों समय का खाना बना लेती हूँ। खाना ही नहीं, घर का सारा ही तो काम करने लगी हूँ। मेरे साथ स्कूल में जो लड़कियाँ पढ़ती थीं,

उनसे करवा लो देखें कोई भी काम ! पर वे क्यों ये सब काम करें ? भगवान् कभी उन्हें ऐसे बुरे दिन न दिखायें !

क्या पापा सचमुच छूट जायेंगे ? पिछली बार जब फैसला हुआ था तब दादी, बाबा, चाचा, सब आ गये थे। सब लोग कचहरी गये पर हमें नहीं ले गये। मुन्नू को छोड़ जाते, वह सचमुच बच्चा था; पर मैं तो बड़ी थी, नवीं का इम्तहान देकर चुकी थी। मुझे पापा के सारे केस की बातें पता थीं, फिर भी मुझे नहीं ले गये थे। मैं और मुन्नू साँस रोक कर सबसे लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं खुद बहुत घबरा रही थी; पर मुन्नू को बराबर समझाती जा रही थी। और कोई चाहे मुझे बड़ा न समझता; पर वह तो समझता ही था। बारह बजे दादी और अम्मा ने रोते-रोते घर में प्रवेश किया। बाबा कुरसी पर बैठकर, हथेलियों में मुँह छिपाकर; फूट-फूटकर रोने लगे। हे भगवान् ! तेरे राज में इतना अन्धेर ! मेरे निर्दोष बेटे को दो साल की सजा ! सबको रोते देख हम दोनों भी खूब रोये। पप्पा को घर नहीं आने दिया, वहीं से जेल ले गये।

दो दिन मैं स्कूल नहीं गयी। जब गयी तो मेरी सभी सहेलियाँ हमदर्दी दिखाने लगीं। पर वह हमदर्दी बिलकुल नहीं थी। हमदर्दी क्या ऐसे कहकर दिखायी जाती है—हाय-हाय ! बेचारी के पिता को जेल हो गयी ? आपस में दबी-दबी जबान में कहतीं—इतने बड़े लोग भी चोरी करते हैं ? तभी ठाठ थे आशाजी के। मेरा जी होता, चीख-चीखकर सबसे कहूँ कि पप्पा ने कुछ नहीं किया है; बस, इस समय उनके ग्रह बिगड़े हुए हैं। ग्रह जब बिगड़ जाते हैं तब क्या नहीं हो जाता ? रामचन्द्रजी ने कौन चोरी की थी, फिर भी चौदह साल का बनवास काटा या नहीं ? पाण्डवों ने क्या किया था, फिर भी अज्ञातवास किया या नहीं ? तब ? जब ग्रह बिगड़ते हैं तो राजा को भी सब कुछ भोगना पड़ता है। इतनी-सी बात ये लोग नहीं समझतीं ? अम्मा ने मुझे समझाया कि अभी हमारे बुरे दिन हैं, जो भी आये, चुपचाप सहन कर लो; और मैं समझ गयी। तभी तो उन लोगों से कुछ नहीं कहती थी। पर उनको कभी समझ नहीं आयी। शायद बुरे दिनों में ही समझ बढ़ती है।

[२]

खैर, तभी कान्त मामा आ गये। वह इंगलैण्ड से जैसे ही लौटे, सीधे घर आ गये थे। कितना बिगड़े थे बाबा और चाचाजी पर कि यह सब हो

कैसे गया ? आज के जमाने में तो गुनहगार अपने को साफ बचाकर ले जाते हैं; लाखों हजम करके मूँछों पर ताव देते घूमते हैं। फाइलें की फाइलें गायब करवा देते हैं; और एक ये हैं कि बिना गड़बड़ किये जेल भोग रहे हैं। बिना अपराध किये भी बाबा अपराधी की भाँति चुपचाप सिर नीचा किये सब सुनते रहे। वह बेचारे कानून के छक्के-पंजे क्या जानें। जब नहीं सुना जाता तो रो पड़ते। उस समय मुझे कान्त मामा का व्यवहार जरा भी अच्छा नहीं लगता था पर कुछ कह भी तो नहीं सकता था कोई। वह हाईकोर्ट में अपील मंजूर करवाने के लिए भाग-दौड़ कर रहे थे। इंगलैण्ड से लौटकर कान्त मामा अपने को बहुत समझने लगे थे, वह शायद बहुत-कुछ होकर भी आये थे।

उन्होंने सचमुच अपील मंजुर करवा दी। पच्चीस दिनों बाद पप्पा छूटकर आये। मैं सोच रही थी, उनके आते ही मैं और मुन्नू उनके गले से लिपट जायेंगे। पप्पा कितना प्यार करेंगे हमें ! पच्चीस दिनों से घर में मनहूसियत छायी हुई है, वह दूर हो जायेगी। हमारे अच्छे दिन लौट आयेंगे। सब लोगों के आजाने से और पप्पा के चले जाने से हमें तो कोई पूछता ही नहीं था। पहले घर में हम-ही-हम थे। खाना बनाया जाता हमारी इच्छा से, कहीं बाहर जाते तो हमारी इच्छा से। एकाएक जैसे हम कुछ नहीं रहे। मैं फिर भी कुछ समझती थी पर मुन्नू कुछ नहीं समझता, किसी भी चीज की जिद कर बैठता। मैं उसे समझाती—भैया ! अभी हमारे बुरे ग्रह आये हुए हैं। किसी भी चीज की जिद नहीं करते। पर वह ग्रह-ब्रह कुछ नहीं मानता और रोये ही चला जाता। सोचा था, अब हमारे आँसू पोंछने वाले और हमारी हर जिद पूरी करने वाले पप्पा आ जायेंगे तो हमारे सारे दुःख दूर हो जायेंगे।

पर वैसा कुछ भी नहीं हुआ। पप्पा मामा के साथ ताँगे पर आये थे। सभी दरवाजे पर खड़े थे। पप्पा उतरे। बात करना तो दूर, बिना किसी की ओर देखे, चुपचाप, नीची नजर किये, वह ऊपर चले गये। सब लोग सकते में आ गये। कैसे हो गये हैं पप्पा ? किसी की हिम्मत ही नहीं हुई कि ऊपर जाये। आखिर दादी ने अम्मा को भेजा। अम्मा थोड़ी देर में ही लौट आयीं। दरवाजा ही नहीं खोलते। बहुत खटखटाया तो यही कहा—चली जाओ, मुझे अभी परेशान मत करो।

यों घरवालों के साथ रोयी मैं रोज ही थी, पर उस दिन पहली बार मेरा मन रोया था, अपनी पूरी समझ के साथ रोया था। क्या हो गया है

मेरे पप्पा को ? पच्चीस दिनों बाद घर में घुसे और प्यार करना तो दूर रहा, हमारी ओर देखा तक नहीं ? बार-बार मन कहने लगा—वह मेरे पप्पा नहीं हैं। वह ऐसे हो ही नहीं सकते। जेलवालों ने उन्हें बदल दिया। एक अजीब-सा भय मन में समाने लगा कि अब शायद पप्पा कभी प्यार नहीं करेंगे। और सचमुच उसके बाद मैंने कभी उनका प्यार नहीं पाया—आज तक नहीं। इस कार्ड में क्या वह एक पंक्ति भी हमारे लिए नहीं लिख सकते थे ? यों मैं उनकी इस उदासीनता और तटस्थता को समझती भी हूँ। शायद वह अब किसी से मोह नहीं रखना चाहते। कहीं फिर सजा हो गयी तो ?

शाम को सब लोग ऊपर गये। दरवाजा तो खोला पप्पा ने, पर बात किसी से नहीं की थी। बस, तकिये में मुँह गड़ाकर पड़े रहे थे। मुझे लग रहा था, जैसे वह रो रहे हैं। पर हमें तुरन्त नीचे भेज दिया गया था। कितना-कितना गुस्सा आया था उस समय ? पप्पा हमारे हैं और ये सब इस तरह कर रहे हैं मानो हम कुछ हैं ही नहीं। पप्पा पर पहला हक मेरा है, और वह भी सारी दुनिया में मुझे ही सबसे ज्यादा प्यार करते हैं। मैं मनाने लगी थी कि ये सब लोग जल्दी-से-जल्दी अलीगढ़ से चले जायँ तो अच्छा हो। तभी शायद पप्पा हमसे पहले की तरह प्यार करेंगे। सबके सामने शायद उन्हें शर्म आती है। शर्म की बात तो है ही। स्कूल में क्या मुझे कम शर्म आती थी।

दूसरे दिन मामा और चाचाजी चले भी गये। दादी और बाबा तो घर के ही हैं, पर पप्पा फिर भी नहीं उतरे। उस रात अम्मा को सोने के लिए ऊपर भेजा। वह सबेरे फिर उठकर आयीं तो बोलीं—'माँजी ! मुन्नू को आप गाँव लेती जाइये, वहाँ के स्कूल में डाल दीजिये; यहाँ तो अब उसकी फीस जुटाना भी भारी पड़ेगा। आशा का तो इस साल फाइनल है; वरना उसे भी उमेश भैया के पास भेज देती। नीचे का घर अब खाली कर देंगे।'

फिर और पता नहीं, क्या-क्या बातें हुईं दोनों में और फिर दोनों खूब रोयीं। मैं किसी को भी रोता देखती तो बिना कारण जाने ही रोने लगती। फिर उस समय तो रोने का बहुत बड़ा कारण भी था—मुन्नू चला जायेगा ? कैसे रहेगा यह गाँव में ? वहाँ का स्कूल भी कोई स्कूल है ? यहाँ इतने अच्छे स्कूल में पढ़ा। पप्पा वैसे चाहे सारे दिन चुपचाप पड़े रहें पर इस मामले में वह कभी चुप नहीं रहेंगे।

पर पप्पा कुछ नहीं बोले । शायद अम्मा-पप्पा ने साथ बैठकर ही यह सब तय किया था । रो-धोकर मुन्नू भी चला गया । हाँ ! जाते समय पप्पा ने उसे सीने से लगाकर बहुत प्यार किया था । मैं पास ही खड़ी रही थी । पप्पा की आँखों से आँसू टपक रहे थे । मेरा बड़ा मन कर रहा था कि मैं आँसू पोंछ दूँ—उसके दुःख को दूर करने के लिए नहीं, पप्पा का प्यार पाने के लिए । मुन्नू दूर जाकर भी पप्पा के कितने पास हो गया; मैं पास रहकर भी शायद हमेशा दूर ही रहूँगी ? पर पप्पा छोड़ने नीचे नहीं आये । कोई स्टेशन भी नहीं गया । जाता ही कौन ? अम्मा अकेली निकलती नहीं, और मैं जाती तो लौटती कैसे ?

[३]

कोई महीने भर बाद फिर हमारा घर रह गया था, उसमें से भी मुन्नू चला गया था । मुन्नू ही क्यों, सप्ताह बीतते-न-बीतने सारा सामान भी चला गया । नीचे का मकान खाली कर दिया । पकाना, खाना और सोना बरसाती में । पास की छोटी-सी कोठरी साफ करके मुझे पढ़ने के लिए मिली ।

पप्पा अब कुछ-कुछ बोलने लगे थे, पर पहले वाले पप्पा बिल्कुल नहीं रह गये थे । बस, सारे दिन चुपचाप लेटे रहते या कुछ पढ़ते रहते । कभी-कभी गोदी में तकिया रखकर कुछ लिखते भी । मेरा बड़ा मन होता था कि देखूँ वह क्या लिखते हैं । पर कभी हिम्मत ही नहीं हुई । कितनी ही बार पढ़ा था कि दुःख में हिम्मत रखने वाले ही सच्चे वीर होते हैं । हँसते-हँसते जो सारे दुःखों को झेल जाये, वही सच्चा पुरुष है । मेरा मन होता, पप्पा को यह बात समझाऊँ। पर क्या पप्पा यह सब नहीं जानते ? फिर ? इस तरह मुँह छिपाकर तो वह पड़ा रहे जिसने सचमुच चोरी की हो । पप्पा को तो बाहर निकलना चाहिए, घूमना-फिरना चाहिए । इस तरह रहकर तो वह सबके बीच अपने को अपराधी ही साबित कर रहे हैं । पर उन्हें कैसे समझाती ?

अपनी कोठरी में और कोई कष्ट नहीं था; पर भयंकर गर्मी के दिन और पंखा नहीं । रात तो जैसे-तैसे छत पर कट जाती; पर दोपहर में तो छत पर बने ये कमरे भट्टी की तरह जलते थे । छुट्टियों के दिन बिताये नहीं बीत रहे थे । अपनी किसी सहेली के यहाँ जाने की इच्छा नहीं थी । पड़ोस तक में जाना छोड़ रखा था । दुःख में कोई साथ नहीं होता । बस, एक गाँठ बाँध

रखी थी कि जब तक ये बुरे ग्रह टल नहीं जाते तब तक सभी कुछ चुपचाप सहन करना है।

जुलाई में बाबा की चिट्ठी आयी। मुन्नू को छठवें में भरती करवा दिया है और वह खुश है। हम सबने भी मान लिया था कि वह खुश ही होगा। ऐसा मान लेने में ही हम सबको खुशी थी। साथ ही, बाबा ने यह भी लिखा था कि शाम को उन्होंने एक दुकान में हिसाब लिखने का काम शुरू कर दिया है। २५ रु० मिलेंगे, जिन्हें वह पप्पा के पास भेज देंगे। ५० रु० उमेश चाचाजी भेजेंगे। मेरे सामने बाबा का बूढ़ा शरीर, झुकी कमर, धुँध-भरी आँखें घूम गयीं। इस बुढ़ापे में वह अब फिर से नौकरी करेंगे? अम्मा ने बताया कि इन पचहत्तर रुपयों में ही उन्हें घर चलाना है।

मैंने स्कूल की बस छोड़ दी। तीन मील पैदल ही जाती थी। धूप हो या बारिश, चेहरे पर शिकन नहीं लाती थी। कभी-कभी सोचती, पप्पा को सस्पेण्ड हुए दो साल तीन महीने हुए, इतने दिनों में आखिर कितना खर्च हुआ कि बैंक का सारा रुपया निकल गया, अम्मा के सारे गहने बिक गये....और भी पता नहीं क्या-क्या चला गया। वकील लोग शायद बहुत लुटेरे होते हैं। कभी सोचती, इससे तो पप्पा सचमुच ही ऑफिस का रुपया मार लेते तो अच्छा होता। कम-से-कम मुन्नू को तो अपने पास रख सकते, और एक पंखा भी रख लेते। इस समय में तो चमड़ी जैसे उबली जाती है। ईमानदारी करके ही कौन बड़ा सुख मिल रहा है।

अम्मा को पता नहीं क्या हो गया था कि भीतर-ही-भीतर सूखती जा रही थीं। कहाँ तो कुछ नहीं करती थीं और कहाँ अब सारा काम हाथ से करने लगीं। पप्पा भी उनकी मदद करते थे। उस समय मुझे बड़ा अच्छा लगता था। उन दिनों अम्मा बहुत चिड़चिड़ी हो गयी थीं। एक दिन उन्होंने मुझे जरा-सी बात पर पीट दिया। अपनी याद में पहली बार मार खायी थी और वह भी इस उम्र में। शरीर से ज्यादा मन आहत हुआ। चोट से ज्यादा इस बात का दुःख था कि पप्पा बैठे देखते रहे, पर कुछ नहीं कहा। न अम्मा को मना किया, न मुझे ही प्यार किया।

अपनी कोठरी में बैठकर मैं घण्टों रोयी थी। हे भगवान्! सब दुख दो; पर मेरे पप्पा को पहले जैसा कर दो; वह पहले की ही तरह काम करेंगे तो मैं सब कुछ सह लूँगी।

[४]

सुनवाई की पहली तारीख ही छह महीने बाद की पड़ी थी। कान्त मामा ने कोशिश तो बहुत की थी कि जल्दी-जल्दी सारी सुनवायी हो जाये और फैसला हो जाये; पर कानून कान्त मामा की इच्छा से नहीं, अपनी रफ्तार से चलता है। वकीलों का सारा खर्च मामा ही कर रहे हैं। जरूर मामी से छिपाकर कर रहे होंगे; वरना वह तो एक पैसा भी खर्च न करने दें।

पहली सुनवायी बहुत अच्छी हुई थी। सर्दी में ठिठुरते हुए जब हमने यह खबर सुनी थी तो गर्मी की एक लहर ऊपर से नीचे तक दौड़ गयी थी।

घर की हालत बद से बदतर होती जा रही थी, खासकर अम्मा की। मुझे तभी लगता था कि कोई ऐसी बीमारी इन्हें लग गयी है जो भीतर ही-भीतर इन्हें खाये जा रही है। हाइजिन में रोग और उसके लक्षण पढ़ रखे थे और मुझे अम्मा के सारे लक्षण राजयक्ष्मा के-से लगते। सर्दी में वह जो ठण्ड खा गयीं तो चार महीने तक खाँसती ही रहीं।

बाबा की चिट्ठी आयी। बड़ी बेबसी में उन्होंने लिखा था—हिसाब में कुछ ऐसी भूलें हुईं कि वह काम चला गया; अब तो पचास रुपये की पेन्शन में से किसी तरह पन्द्रह रुपये ही भेज सकूँगा; हिम्मत रखना बेटा ! बुरे दिन आते हैं तो सब तरफ से आते हैं, पर ये दिन फिरेंगे जरूर; भगवान् के घर देर हो सकती है, अन्धेर नहीं।

दूसरी सुनवायी अप्रैल में हुई। तारीखें जल्दी मिलती ही नहीं थीं। पप्पा को छूटे साल हो गया था और अभी भी दो सुनवायी और बाकी थी। इतने-इतने दिनों बाद ही यदि सुनवायी हुई तो एक साल और लग जायगा। मेरा मन काँप-काँप जाता था। लगता था, अब ऐसे दिन नहीं काटे जाते। मुन्नू गाँव में है, पप्पा बरसाती में, मैं कोठरी में और अम्मा खाट पर।

कैसे मैंने मैट्रिक का इम्तहान दिया था, मैं ही जानती हूँ। फिर भी सेकण्ड डिविजन में पास हो गयी। कोई खुशी मनाने वाला नहीं था। सबके मन ऐसे मर चुके थे कि न किसी बात की खुशी होती थी, न रंज।

जुलाई में नयी समस्या आयी। गाँव में तो केवल मिडिल स्कूल ही था। मुन्नू का अब क्या हो ? मेरा अब क्या हो ? यहाँ कॉलेज में जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। मैं जानती थी कि बच्चों को पढ़ाना तो बहुत दूर, पैंसठ रुपये में साथ रखकर खिलाना भी मुश्किल था।

बाबा ने मुन्नू को सीधे उमेश चाचा के पास भेज दिया और खबर कर दी। यहाँ की स्थिति वह जानते थे। पप्पा वह पत्र पढ़कर सिहर उठे, अम्मा बहुत रोयीं—मैं छोरे को बे-पढ़ा ही रख लेती, वहाँ क्यों भेज दिया ! एक बार उसे मुझसे मिला तो देते; लीला का स्वभाव कौन नहीं जानता ? मेरा बच्चा सहम-सहम कर मर जायेगा। दो दिनों तक वह रोती रहीं। पप्पा अपराधी की तरह चुप बैठे रहते। अम्मा क्यों रोती हैं इस तरह ? पप्पा यदि कुछ कर सकते तो क्या नहीं करते ! दो दिनों बाद वह बोलीं—मैं सोचती हूँ, आशा को भी वहीं भेज दो। वहीं कॉलेज में भरती हो जायेगी। मैं समझ ही नहीं पायी कि अम्मा व्यंग्य कर रही हैं या···पर अगले वाक्य ने ही सारी बात साफ कर दी—लीला का स्वभाव तो तुम जानते ही हो; आशा मुन्नू के पास रहेगी तो उसे तसल्ली तो रहेगी; सोने को एक गोद तो रहेगी।

और अम्मा खुद फूट-फूटकर रोने लगी थीं—उमेश भैया को लिख देना, जो भी वह खर्च करें, हम पर कर्ज ही समझें; मैं उसकी पाई-पाई चुका दूँगी; भगवान् कभी हमारे दिन भी बदलेगा ही; नहीं तो अपने को बेचकर उनका कर्ज अदा करूँगी। पर मेरे बच्चों पर थोड़ा रहम करें। ये दुखियारे यों ही अनाथ हो रहे हैं, थोड़ा प्यार इन्हें भी दें थोड़ा; लीला को समझा दें।

[५]

कान्त मामा अपने ही किसी काम से दिल्ली आये थे। लौटते समय अलीगढ़ भी उतरे। अम्मा ने उन्हीं के साथ मुझे इलाहाबाद भेज दिया था। कान्त मामा ने एक बार कहा जरूर था—कलकत्ता भेज दो, वहाँ पढ़ लेगी। पर क्या मैं पढ़ने जा रही थी ? पढ़ना तो बस यों ही था। मुझे तो मुन्नू को तसल्ली देनी थी। वह रोये तो उसे अपनी गोदी में रुलाना था और उस दिन मैं सचमुच बड़ी हो गयी थी—अम्मा की तरह बड़ी। पर घर छोड़ते समय सारे बड़प्पन के बावजूद फूट पड़ी थी। अम्मा की हालत देखकर घर का अधिक काम मैंने सँभाल रखा था। अब क्या होगा ? इस हालत में अम्मा कैसे सब काम करेंगी ? रोज-रोज के बुखार ने उन्हें हड्डियों की ठठरी बना दिया था। पर अम्मा को तसल्ली देने वाले पप्पा हैं, रोने के लिए पप्पा की गोदी है; मुन्नू तो वहाँ अकेला है, अभी मेरी सबसे ज्यादा जरूरत मुन्नू को ही है।

रास्ते में कान्त मामा ने मुझसे पूछा था—शारदा को रोज बुखार रहता है ; किसी डाक्टर को दिखाया या नहीं।

नहीं—और मुझे रोना आ गया।

'रोते नहीं, बेटे ! अब बहुत जल्दी ही सब ठीक हो जायगा।'

'पप्पा ने तो कई बार कहा था कि दिखा दो; पर अम्मा मानती ही नहीं। कहती हैं—डाक्टर झूठ-मूठ को बहम डाल देते हैं।'

मामा चुप हो गये थे। मामा क्या समझते नहीं, अम्मा इसलिए नहीं दिखाती है कि डाक्टर और दवाई का खर्च कहाँ से आयेगा ? वे लोग तो टॉनिक और दूध-फल बता देंगे, आराम करने और खुश रहने को कह देंगे। बोलो, यह सब हो सकेगा पैंसठ रुपये में ? मुझसे पूछो, इन दिनों मैंने हिसाब चलाया है। एक-एक चीज गिना सकती थी। पर उससे क्या कहती ? वकीलों का सारा खर्च तो वह कर ही रहे हैं, और वकीलों पर कितना खर्च होता है, क्या मैं जानती नहीं ?

मुन्नू मुझे देखते ही चिपट पड़ा था और रो दिया था। मुझे भी रोना आ गया था। चाची ने कुछ कहा जरूर था, पर अपने ही रोने में हमने सुना नहीं। मुन्नू को गले लगाकर मुझे कैसा लग रहा था, मैं नहीं बता सकती। इतना जरूर लगा कि उसे सचमुच किसी गोदी की जरूरत थी—किसी सहारे की। मैं चाची से बातें कर रही थी। उन्हें मेरा आना अच्छा नहीं लगा था, यह साफ था; पर मैं ही कौन अपनी इच्छा से आयी हूँ। मुन्नू का रंग काफी साँवला पड़ गया था। चेहरा सूखकर मुरझा गया था और आँखें बड़ी सहमी-सहमी लग रही थीं। लगा, बहुत डरकर-दबकर रहता है शायद यहाँ। घर में तो कितना ऊधम करता था। इतना-सा बच्चा ! कैसे उसने अपने को बदला होगा, दबाया होगा ? देखा, उसका काम था साल-भर के बिट्टू को खिलाना; सारे दिन वह उसे गोदी में टाँगे-टाँगे फिरता। कब तो वह पढ़ता होगा, कब वह होम-वर्क करता होगा !

रात को जब वह सोने मेरे पास आया तो धीरे-से बोला—दीदी ! कल मुझे बुढ़िया के बाल खिलाना। टिल्लू और पम्मी रोज खाते हैं। चाची उन्हें पैसे देती हैं और कहती हैं, छिपकर खा लिया करो। पर वे सामने ही खाते हैं। एक दिन टिल्लू मुझे चिढ़ाकर खा रहा था; मैंने उसके बाल छीन लिये। उसने चाची से शिकायत कर दी। चाची ने मुझे बहुत मारा। चाची बहुत जोर से मारती हैं।

और वह फिर सिसकने लगा। मैंने उसे प्यार किया और कहा—मैं अपने भैया को बाल खिलाऊँगी। पर मेरा मन भीतर तक सिसक पड़ा। हम बड़े हैं, हम सब समझते हैं और सह भी सकते हैं; पर यह बेचारा कैसे समझें ? समझ तो गया ही होगा, पर सहे कैसे ?

पहली रात को ही मैंने संकल्प किया—मैं कॉलिज नहीं जाऊँगी। घर का सारा काम मैं करूँगी जिससे चाची को पूरा आराम मिले और उसका गुस्सा ठण्डा रहे। चाची कुछ भी कहेंगी, चूँ तक नहीं करूँगी। बस, प्रसन्न रहेंगी तो मुन्नू सुरक्षित रहेगा। मुन्नू को रात में बैठकर पढ़ाया करूँगी।

मैं चाची से भी जल्दी उठकर सबके लिए चाय बना देती। फिर जल्दी से टिल्लू और मम्मी को तैयार कर देती, तब नाश्ता देकर तीनों बच्चों को स्कूल भेज देती। नाश्ते की प्लेट देखने चाची जरूर आतीं। शायद उन्हें वहम रहता था कि मैं मुन्नू को कुछ ज्यादा या अच्छा न खिला दूँ। चाचाजी तारीफ करते—तुम तो बड़ी होशियार हो आशा ! इतना काम कर लेती हो। चाची तुरन्त कहतीं—मैं जब इतनी बड़ी थी तो बारह जनों के कुनबे को सँभालती थी। आध-आध मन से पापड़-मँगोड़ी करती थी। चुप रहती थी मैं तो। दोनों समय का खाना भी मैंने अपने ही जिम्मे कर रखा था।

रात में सोने जाती तो पैर मेरे झपकते रहते थे। कभी-कभी मुन्नू को अपने पैरों पर खड़ा कर लेती थी। उससे पैरों को तो आराम मिल जाता था, पर मन ? अम्मा कभी-कभी गाँव में काम करवाती थीं तो पप्पा डाटते थे—मैं अपनी आशा को डाक्टर बनाऊँगा, विदेश भेजूँगा, यह भटियारखाना करवा कर क्या मुझे अपनी बिटिया की जिन्दगी खराब करनी है ? यही वाक्य हवाओं में तैरकर कमरे में घूमता रहता, गूँजता रहता। धीरे-धीरे आदत पड़ गयी तो पैरों का दर्द बन्द हो गया और मन भी सुन्न होता चला गया।

[६]

मैंने अम्मा को नहीं लिखा कि मैं कॉलेज में भरती नहीं हुई हूँ। लिखने के लिए चाचाजी ने मुझे चार पोस्टकार्ड दिये थे और बताया था कि हर महीने चार कार्ड मिलेंगे। उनमें अपने कुशल समाचार भेज देती थी, बस।

रात-दिन काम कर-करके मैं चाची के क्रोध को सँभाले रहती। आराम पाकर मुझ पर वह कुछ-कुछ प्रसन्न भी हो गयी थीं, पर उनका हाथ जब-तब

उठ जाया करता था—अपने बच्चों पर भी, मुन्नू पर भी। उनके बच्चे आदी थे, सो मार खाकर भी हँसते और भाग जाते। फिर वे मार खाते थे तो प्यार भी पाते थे। पर मुन्नू सहम जाता था; भीतर-ही-भीतर सिसकता। बड़ी करुण नजरों से मुझे देखता। पर भीतर ही भीतर से कटकर भी मैं ऐसे अवसरों पर कुछ नहीं बोलती। सोचती, यों मार खा-खाकर मुन्नू या तो बेहद ढीठ हो जायगा या जड़। पप्पा और अम्मा तो कभी हाथ भी नहीं लगाते थे। हमारे अकेले में मैं उसे प्यार कर लेती। समझाती—थोड़े दिनों की बात और है भैया! फिर हम अपने घर चलेंगे, अम्मा और पप्पा के पास, बस! पता नहीं, वह समझता भी था या नहीं। पर मेरा मन सबसे ज्यादा दुखी होता जब चाची गुस्से में कहतीं—ऑफिस के बीस हजार गायब करके गाड़ दिये और हमारा खून चूस रहे हैं! ये हमारे बड़े हैं! लानत है ऐसे बड़प्पन पर। मैं सोचती, क्या सचमुच चाचाजी यही सोचते हैं कि पप्पा ने रुपये मारे हैं? यदि आज उनके पास पैसा होता तो क्या हमें यों छोड़ देते? और अपने सारे पिछले दिन आँखों के आगे घूम जाते। कितना प्यार करते थे पप्पा—कितना! मैं चाहे कुछ भी लिखूँ, पर क्या यह जानते नहीं कि हम पर क्या गुजर रही है?

३१ तारीख को चाचाजी ने चाची के हाथ में तनख्वाह रखी तो चाची ने कहा—अब भाई साहब को लिख दो कि पचास रुपये नहीं भेज सकेंगे। इस महँगाई के जमाने में दो को पालना ही बहुत भारी पड़ रहा है, फिर हमारे भी तो बच्चे हैं। कौन यहाँ खान गड़ी है? बात ठीक थी, पर मेरा मन काँप गया। चाचाजी रुपये नहीं भेजेंगे तो क्या होगा? पन्द्रह रुपये महीने में क्या होगा? इतना तो कमरे का किराया ही चला जाता है।

रात हुई। अम्मा और बिसूरते हुए पप्पा मुझे सारी रात दिखायी दियें, मैं भी उनके साथ बहुत रोयी।

अम्मा का कोई पत्र ही नहीं आया बहुत दिनों तक। उठते-बैठते एक ही चिन्ता थी मुझे—अम्मा ने पैसे की क्या व्यवस्था की होगी? कान्त मामा का भी कोई पत्र नहीं आया। पता नहीं, क्या हाल है उधर का?

पूरा अगस्त बीत गया। मैं अपने चारों कार्ड डाल चुकी; पर कोई जवाब नहीं आया। क्या हो गया है अम्मा को, लिखती क्यों नहीं? सितम्बर में कान्त मामा का पत्र आया—शारदा की तबीयत खराब थी, सो उसे यहाँ ले

आया। यहाँ उसका इलाज चल रहा है। दिनेशजी ने कमरा बदल लिया है, उनका पता है। किस्मत के अलावा क्या कहूँ कि तारीख जल्दी नहीं मिलती। तीसरी तारीख इसी महीने के आखिर में पड़ी है। सुनवायी पर जाऊँगा। तुम घबराना मत। भगवान सब ठीक करेंगे। गर्मियों तक कुछ-न-कुछ अवश्य हो जायेगा।

तो पप्पा अकेले रह गये ? अम्मा और पप्पा की गोद भी छिन गयी जिसमें वे रो सकते थे। पप्पा का यह पता ? अलीगढ़ की गली-गली मुझे मालूम थी। यह तो मजदूरों की बस्ती है। अँधेरी सीलन-भरी गलियाँ—पास में बहते नाले। पप्पा का खाना कौन बनाता होगा ? उन्होंने तो कभी ऐसे काम नहीं किये। कभी अँगीठी भी जलाते तो अम्मा मना कर देती थीं। तब वह यही कह देते—शारदा ! कौन जाने कि इस बार छूट ही जाऊँगा। सजा हो गयी तो पता नहीं क्या-क्या करना पड़ेगा।

अम्मा बीच में ही डाँट देतीं—ऐसी बात भी क्यों मुँह से निकालते हो ? भगवान के घर देर हो सकती है, अन्धेर नहीं।

यह वाक्य अम्मा ने बाबा से सीखा था और मन्त्र की तरह गाँठ बाँध लिया था।

और मैं भगवान से यही मनाया करती कि हे भगवान ! उन्हें सजा न हो। पप्पा की तपस्या का फल उन्हें मिले; जो कुछ वह सह रहे हैं, वह क्या तपस्या से कम है ? सीलन-भरी अँधेरी कोठरी में सबसे मुँह छिपाकर रहना; बच्चे कहीं; पत्नी कहीं; अब तो रहम करना; अब उन्हें सजा मत देना।

[७]

मार्च में चौथी सुनवायी भी हो गयी। कान्त मामा की चिट्ठी आयी कि फैसला पक्ष में ही होगा। केस की पैरवी बहुत अच्छे ढंग से हुई है। बस, फैसले की तारीख पड़ जाये जल्दी से।

मैं बैठी-बैठी दिन गिनती। पप्पा को सस्पेन्ड हुए चार साल हो गये। इन चारों सालों में क्या कुछ नहीं हुआ ! भगवान ! देर तो बहुत की, अब अन्धेर मत करना ! यों यह देर भी अन्धेर से कम नहीं, पर और अन्धेर मत करना।

मुन्नू और टिल्लू अपना-अपना रिजल्ट लेकर आये। टिल्लू सब विषयों में पास था और मुन्नू एक विषय में फेल होकर प्रमोट हुआ था। चाचाजी ने

टिल्लू को प्यार किया । मुन्नू पास खड़ा आँसू-भरी आँखों से टुकुर-टुकुर ताकता रहा ।

चाची ने कहा—फेल हो गया न ? पढ़ने-लिखने में मन लगाओ मुन्नू साहब ! तब टिल्लू की तरह पास होओगे । सारे दिन बैठे-बैठे टिसुए बहाने से पास नहीं हुआ जाता ।

आँख के आँसू गालों पर ढलक गये । कमीज की बाँह से उन्हें पोंछता हुआ वह भीतर जाने लगा तो टिल्लू चिढ़ाने लगा—फेलूराम ! फेलूराम ! उस दिन पहली बार मेरे लिए अपने पर बस रखना बहुत कठिन हो गया था । मन हुआ, कह दूँ—उसे पढ़ने के लिए समय ही कहाँ मिलता है ? सारे दिन तो बिट्टू को खिलाता है; पच्चीस चक्कर बाजार के करता है । पर चुप ।

जाते-जाते मुन्नू ने एक बार चिढ़ाते हुए टिल्लू को जरूर जलती आँखों से देखा था । लगा, उठाकर एक हाथ मार देगा; पर न वह लौटा, न कुछ बोला ही । कैसे हो गया है मुन्नू इतना सहनशील ? चुपचाप सहने का आदेश उसे मैं ही दिया करती थी । पर अब वह यों सह जाता है तो सबसे ज्यादा कष्ट मुझे ही होता है । पर कोई उपाय भी तो नहीं था ।

मुन्नू की छुट्टियाँ हो गयीं । सोचती थी कि शायद कान्त मामा या अम्मा का कोई पत्र आयेगा कि तुम लोग आ जाओ पर किसी ने कुछ नहीं लिखा । पप्पा तो कभी कुछ लिखते ही नहीं. अम्मा कभी-कभी दो लाइनें लिख देतीं—मैं धीरे-धीरे ठीक हो रही हूँ, तुम चिन्ता मत करना; लीला को आशीर्वाद, बच्चों को प्यार; चाची की मदद करना, तंग मत करना । मुझे हर बार लगता था, कितनी झूठी चिट्ठी लिखती हैं अम्मा !

पर धीरज की अवधि खिचते-खिचते एक साल तक पहुँच गयी । पिछले मार्च में सुनवायी हुई थी और अब इस साल का अप्रैल है ।

अब तो मुझे लगने लगा था कि जैसे जिन्दगी-भर हमें इसी तरह रहना है; बस, इसी तरह । अब मैं भी कालेज में पढ़ने नहीं जाऊँगी; मुन्नू हर साल एक विषय में फेल होकर जैसे-तैसे प्रमोट हुआ करेगा; अम्मा शायद हमेशा बीमार रहकर मामा के यहाँ इलाज ही करवाती रहेंगी; पप्पा वैसे ही सीलन-भरी बदबूदार कोठरी में अपना खाना आप पकाया करेंगे···

[८]

और तभी आज पप्पा की यह चिट्ठी आयी—उनके हाथ की लिखी पहली चिट्ठी। मैंने हजार बार उसे देखा, पढ़ा, छुआ, जैसे उस कार्ड को छूकर पप्पा की हालत का ज्ञान हो जायेगा।

पप्पा ने हमें बुलाया नहीं। कहने से चाचीजी ले जायेंगे ? पर इस बार जायेंगे जरूर, चाहे कुछ भी हो जाये। कान्त मामा को लिखूं ? वे लेते जायेंगे ?

कल सवेरे दस बजे फैसला है। हम दोनों कान्त मामा के साथ आ गये। धर्मशाला में छोड़कर मामा पप्पा को लेने चले गये। पूरी उम्मीद थी कि इस बार अम्मा जरूर आयेंगी; पर वह नहीं आयीं। मामा ने इतना ही कहा—उसकी हालत लाने जैसी नहीं थी; फैसला हो जाये तो तुम लोग वहीं चलना। पता नहीं, अम्मा किस हालत में हैं। मन बार-बार काँप उठता है। मामा कुछ छिपा रहे हैं। मैंने भी अम्मा से कितना कुछ छिपा रखा है। आज कौन किसके बारे में सही बात जानता है ? दूसरे को हलका रखने के लिए सब अपने-अपने दुख से ही भारी हो रहे हैं।

पप्पा आये तो मैं और मुन्नू उनसे लिपट गये। हैं पप्पा ! शायद पप्पा को भी हम लोग ऐसे ही लग रहे होंगे। कितने-कितने आँसू बह गये हम तीनों के ! कान्त मामा भी रो पड़े।

शाम को दादी-बाबा भी आ गये। रात में मुन्नू दादी से पूछ रहा था—दादी ! अब तो हम पप्पा के पास ही रहेंगे न ? तुम इतनी पूजा करती हो; अपने भगवान से कहो कि हमारे पप्पा को छोड़ दें।

'हाँ, बेटा ! अब, अब तू पप्पा के पास ही रहेगा। रात-दिन भगवान से यही तो कहती हूँ।'

'चाची के पास तो मैं अब कभी नहीं जाऊँगा। टिल्लू अपने को समझता क्या है ? मैं अपने पप्पा के पास रहूँ और फिर आ जाये ! हरेक चीज में पछाड़ सकता हूँ—पढ़ने में भी, कुश्ती में भी। पहले फर्स्ट भी आया हूँ एक बार क्लास में—क्यों दीदी ! आया था न ?"

मेरी आँखें भीग आयीं। कितने दिनों बाद मुन्नू को उसके असली रूप में देख रही हूँ। टिल्लू ने उसे चिढ़ाया था; इसने कुछ नहीं कहा था, चुपचाप

भीतर बैठकर रोया था। शायद जानता था कि टिल्लू को कुछ भी कहने का अर्थ है चाची की मार। पर मुझे कितना बुरा लगा था उस दिन ! कहाँ चली गयी मुन्नू की बाल-सुलभ ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा की भावना ! क्या इतनी-सी उम्र में हम लोग सब कुछ सहने के लिए ही बने हैं।

मुन्नू दादी की खाट पर ही सो गया। मुझे बिल्कुल भी नींद नहीं आयी। कल फैसला है—हम सबकी किस्मत का फैसला। कान्त मामा बहुत आश्वस्त हैं; पर पप्पा के चेहरे पर तो कोई भाव ही नहीं !

फैसला हो गया। मैं भी कचहरी गयी थी। इस बार किसी ने रोका भी नहीं। वहाँ खास भीड़ नहीं थी। पप्पा से, भला घरवालों के सिवा, किसे दिलचस्पी हो सकती थी ? पप्पा कठघरे में खड़े थे, हम कुरसियों पर बैठे जज साहब के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। जज साहब आये तो बाबा ने आँखें मूँद लीं। अम्मा का सर नीचा था। वह जरूर मन-ही-मन प्रार्थना कर रही होंगी। मैं मुन्नू का हाथ कस कर दबाये बैठी थी और मुझे लग रहा था कि अब और देरी होगी तो साँस घुट जायेगी।

कानूनी भाषा में जज साहब ने क्या-क्या कहा, मुझे कुछ समझ में नहीं आया, पर आखिरी वाक्य समझ में आ गया—मुजरिम को रिहा किया जाता है···। मैं मुन्ने का हाथ हवा में उछालकर एक तरह से चीख ही पड़ी—मुन्नू, पप्पा रिहा हो गये···रिहा हो गये !

पर एकाएक ही दादा और बाबा फूट-फूटकर रो पड़े। मैं भय से काँप उठी, कहीं मैंने गलत तो नहीं सुन लिया ! पिछली बार भी तो ये लोग इसी प्रकार रोते-रोते घर में घुसे थे। पर बाबा का यह वाक्य—मैं कहता न था बेटे ! भगवान के घर में देर है, पर अन्धेर नहीं, देख···!

पर पप्पा को क्या हुआ है ? वे खुश क्यों नहीं हो रहे ? उनका भावहीन चेहरा; गढ़े में धँसी हुई निस्तेज, निर्जीव आँखों में से खुशी की चमक क्यों नहीं आ रही ? वे ऐसी पथरायी आँखों से बाबा को देख रहे हैं, मानो उन्हें बाबा की बात ही समझ में नहीं आ रही हो।

मैं दौड़कर पप्पा से चिपट गयी—पप्पा ! आप बरी हो गये ! सुनते हैं, आपको सजा नहीं हुई···सजा नहीं हुई है आपको ! पर पप्पा फिर भी वैसे ही रहे, मानो उन्हें विश्वास ही नहीं हो कि उन्हें सजा नहीं हुई है।

१०

दौने की पत्तियाँ

मार्कण्डेय

हवा में कुछ गर्मी थी। आसमान का रंग कहीं भी धूमिल नहीं हुआ था। सामने फैले विस्तृत भूखंड का हलका नीलावरण, भोला की दृष्टि में एकाग्र होकर, चुपचाप बैठ गया था—बहुत ही गुम-सुम, जैसे प्रकृति का जीवन ही भूल से कहीं खो गया हो। सामने वाली नीम की पत्तियाँ भी किसी अनुशासन में स्थिर खड़ी थीं। भोला ने ऊपर से नीचे तक उस नीम के पेड़ को निहारा। ·· पाँच ही बरस हुए इसे लगाये, लेकिन कैसा छितनार हो चला है? गाँव में किसके पास इतना सुन्दर नीम का पेड़ है? डालियाँ जैसे धरती को चूमने बढ़ी आ रही हैं और जड़ के पास का यह चबूतरा? उसका मन चहक उठा। लोगों की कही बातें याद आने लगीं।

·· भई भोला का क्या कहना? इनका हर काम ही निराला होता है। देखो न, चबूतरा क्या है, जैसे सिलमिट से पलस्टर किया हो। भोला जहाँ न हाथ लगा दे।

···एक बिगहा भूँय में इतनी पैदा कहाँ? धरती तो सोना उगलती है, सोना, इसके लिए। कैसी साफ-सुथरी झोपड़ी बना रखी है। इस बीरान, भुतही जगह को गाँव की दुलहिन बना देना कोई मामूली बात है?

एक बीघे के पतले, लम्बे, नहरी खेत के एक सिरे पर भोला की यह सृष्टि गाँव की दुलहिन के नाम से पुकारी जाती है। यही भोला का राज है। एक ओर साग-भाजी का कोइरार और दूसरी ओर एक झोपड़ी। उसके आगे एक छोटा-सा आँगन। आँगन के चारों ओर एक चौड़ी मेड़; जिसकी नाली में मर्सा, मकोय, तुलसी और दौना से लेकर, बैजन्ती, रातरानी और गुलदावदी के पौधे

लहलहाते रहते हैं। दौना भोला को बहुत प्रिय है। प्रायः अपने घर आये जाने-माने लोगों का स्वागत करते समय, वह दौने की पत्तियाँ भेंट करना नहीं भूलता।

लेकिन भोला को आज हो क्या गया है ? क्यों उसकी आत्मा इतनी रिक्त हो गयी है ? उसने कोई पाप नहीं किया, किसी का नुकसान नहीं किया, किसी का पेट नहीं काटा। वह मेहनत करके खाता है, पसीना जलाकर मिट्टी से अन्न जुटाता है। फिर उसके लिए दुख कैसा ?

···मेरा बच्चा स्कूल से जल्दी क्यों नहीं लौट आता ? गुलाबी कब तक साग बेचती रहेगी ? क्या उसे मालूम नहीं···क्या उसे···भोला सोचते-सोचते झुँझला उठा,···उन्हें पता नही ही होना चाहिए, वरना इस तिनके की झोपड़ी में आग लग जायेगी। फिर कौन बुझायेगा इसे ?

कोई सयाना बेटा भी तो नहीं, जो फिर से जोड़-तोड़ कर, घर-गृहस्थी सँभाल ले। भोला ने माथे का पसीना अँगुलियों से काछ कर, नीचे झिटक दिया। बगल में देखा तो मर्से की लम्बी-लम्बी, लाल बालियों पर गौरइयों का एक झुण्ड उतर आया था। पके दानों को फेरते हुए, उनके ठोरों से कुट-कुट की ध्वनि निकल रही थी। दूसरा दिन होता तो भोला उन्हें उड़ाता, खेत के पास फटकने भी न देता। पर आज जैसे उसका मन इस आवाज के पीछे दौड़ चला। वह सुनता रहा, क्योंकि जब भाँटे और मिर्चें की तैयार फसल का एक पौदा भी अब उसका नहीं रहेगा, तब इन मर्सों से क्या होता है। उसके जी में आया कि वह चिल्ला पड़े, "खूब खाओ, मनमाना खाओ ?" पर एकाएक गुलाबी को सामने आती देख, वह हड़बड़ा उठा।—ऐसा क्या करे कि···वह सोचने लगा और वहीं बगल में पड़ी खुर्पी उठाकर, मर्से की जड़ के पास जा बैठा।

"भगवान तोहें बइठै के नाहीं लिखे हैं का हो, जो पके मर्से की जड़ खुर्पियाय रहे हो ? कुछ रस-दाना भी किया या वैसे ही हो ?" और वह तेजी से झोंपड़ी के द्वार पर चली गयी। लेकिन भोला मन मारे उसी मर्से की जड़ में गड़ा रहा।

पाँच बरस पहले की वह अँधेरी, बरसती रात उसके अँधेरे मन में कलट कर थम गयी। हवा के गहरे थपेड़ों और पानी की बूंदों के तीर से उनके चेहरे बिंध रहे थे। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। धरती पानी में गलती जा रही थी।

···काँहे गाँव छोड़ रहे हो ?···कहाँ जाओगे इतनी रात ?···बनी बनायी गिरहथी है भुल्लू के बाबू, सोच समझ लो···? जहाँ चार जन रहेंगे, कुछ न कुछ, फिर हम नीच जात के हैं—चाकरी करने वाले का मान-जान कब हुआ है ? इतनी छोटी-सी बात के लिए गाँव छोड़ रहे हो।

···गुलाबो, अब तो वहीं रहेंगे, जहाँ चाहे सूखी रोटी ही मिले पर किसी की गालियाँ न सहनी पड़े। भुल्लू को बचाये रहो।

उसी समय बिजली कड़क कर अंधेरे में धँस गयी थी और वे दोनों बच्चे को बीच में करके, एक दूसरे से सट गये थे। पानी की बूँदों ने उन्हें ढँक लिया था। कैसी अनोखी छत थी वह—पानी की छत। भोला सोचते-सोचते सहसा रुक गया। गुलाबी कुरुई में बजड़ी का लावा और लोटे में रस लिये खड़ी थी।

"खर तो मार लेते। कहाँ की बिपत आ गयी थी जो बासी मुँह बैठे रह गये ?"

भोला कुछ कहने ही जा रहा था कि गुलाबो जैसे विस्मय में बोल उठी, "अरे वह न देखो, सुथना-फुथना पहिरे कई लोग चले आ रहे हैं।"

भोला काँप कर रह गया।

"कहाँ ?"

"वह देखो ?"

भोला के शरीर में बिजली दौड़ गयी। वह उठ खड़ा हुआ।

"तुम जाकर घर में बइठो···इंजिनियड़ साहब हैं।"

"तौ का खाय जायेंगे ?···बड़े चले पर्दा कराने।"

भोला को जाने क्यों क्रोध आ गया ? उसका शरीर काँपने लगा। उसे लगा कि वह आपे से बाहर हो जायेगा, पर वह इतना गर्म तो कभी नहीं होता था। उसने विस्फारित नेत्रों से गुलाबी को देखा। वह डर कर सिमट गयी। कैसी थी वह शकल ? उसने कभी इस चेहरे को नहीं देखा था। बढ़ी हुई दाढ़ी के नीचे झाँकने वाली नहर-सी लकीरें, आँखें धँसी-त्रँसी। सारा शरीर जैसे गन्ने के चुसे चेफे-सा सिकुड़ कर ऐंठ गया था।

भयानक से भयानक विपत्ति को हँस कर सहते हुए, मुसकराने वाले भोला को यह क्या हो गया ?

वह सोचने लगी,—इन खुरदरे हाथों में तो सोना बसता था। इनकी

टूटी-फूटी थकी बोली से अमृत टपकता था। यह हो क्या गया, आज···भगवान यह क्या हो गया ? वह जैसे किसी डाल से टूटे पत्ते की तरह बेसहारा हो गयी।

"तो मर यहीं खड़ी-खड़ी। लाज हया तो सब धोकर पी गयी। यह घर-घर घूमकर तरकारियाँ बेचने का फल है।"

"यह सब क्या कह रहे हो, भुल्लू के बाबू ?" और वह फूट-फूट कर रोने लगी।

पर भोला वहाँ रुका नहीं। वह जल्दी-जल्दी डग बढ़ाता आगे बढ़ गया और सिंचाई विभाग के इन्जीनियर साहब, छोटे साहब तथा ठाकुर साहब से बड़ी देर तक बातें करता रहा।

इधर प्रथम पंचवर्षीय योजना का समय समाप्त हो रहा है। दो लाख रुपए का काम बाकी रह गया है। काम नहीं हुआ तो रुपये डूब जायेंगे। योजना तो जनता के हित के लिए बनायी गयी है न ? इसलिए किसी भी तरह काम हो जाना चाहिए और मौका भी क्या सुनहरा मिला है कि चैती की जवान फसल, धरती पर पैगें मारने लगी। अभी-अभी किसानों ने खेतों को दूसरा पानी दिया है। इस समय खेतों के बीच से नहर बनवाते समय, करीब साठ फुट चौड़ी जमीन पर फावड़े चला कर, नरम मिट्टी उलटवाने में ठेकेदार को भी काफी आराम है। जेठ बैशाख होता, तो मिट्टी पत्थर होती। सिंची-सिचाई लहलहाती हुई मिट्टी में फावड़े ऐसे धँसते हैं, जैसे सेब में दाँत। ऊपर से सहयोग राष्ट्रीय हित का भाषण और घूँ-घूँ करके गुर्राने वाली जीपों की चहलकदमी के लिए ऐसी मुलायम सेजें कहाँ मिलेंगी ?

महीने भर से गाँव की सीमा में से नहर बन रही थी, पर जब तिवारी जी के बारह-बिगहवा चक के ठीक कोने पर फीता गिर गया, तब सारा काम जहाँ का तहाँ धरा रह गया। सिंचाई मिनिस्टर इसी खित्ते के तो रहने वाले हैं। पिछली बार चुनाव में तिवारी जी ने धन-जन से बड़ी मदद की थी, उनकी। कितने आसामी तो गाय-बैल की तरह बाड़े में रात भर बन्द किये रहे और सबेरे ही लारी में भर-भर कर उन्हें पोलिंग स्टेशन पहुँचा कर वोट ले लिया गया था। लोग कहते हैं, तिवारी जी ने कमाल कर दिया। सिंचाई-मिनिस्टर तो इतने खुश कि तिवारी जी की अकल के गुलाम हो गये, तब से।

और जब नहर का सिरा आकर उन्हीं तिवारी जी के बारह-बिगहवा के कोने पर गिरा, तब उनके तेवर चढ़ गये। काम बन्द हो गया। पंडित जी

रात की गाड़ी से फौरन लखनऊ के लिए रवाना हो गये। सवेरे ही; लोग कहते हैं, गाँव से तार से इन्जीनियर को लखनऊ बुलाया गया और आदेश हुआ कि नहर इधर-उधर घुमाकर खेत बचा लिया जाये।

इन्जीनियर बड़ा हँसता था, क्योंकि इस नन्हें से काम के लिए इतना बड़ा पँवारा खड़ा करने की क्या जरूरत थी ? यही हजार रुपये और एक मुर्रा भैंस जो अब दी है, तभी दे देते तो बिना लखनऊ गये ही काम हो जाता। उनका तो यही काम है। जिस पार्टी ने रुपये ज्यादा दिये, उसकी ओर से फीते का रुख जरा-सा मोड़ लिया। फिर नये शिकार, जाते रुपये और इस तरह गाँव के गाँव चंदा करके अपनी हद इस खूबसूरती से बचा लेते हैं कि नहर का पानी भी मिले और जगह भी खराब न हो। अब क्या कोई परायी सरकार है ? यह तो रुपये के एक घर से दूसरे घर में जाने की बात हुई। जनता की सरकार, जनता को कैसे नाराज करे ? उसको काम तो करना ही है, और श्रद्धा-भक्ति से जो भी मिल गया, उसे नकारें कैसे ?

इधर गुलाबी के बड़े-बड़े मंसूबे हैं। उसने सुना है, नहर निकलने पर कोई अड्डा बनने को है। पानी भी पास रहेगा। खूब तरकारियाँ होंगी और वह उसी अड्डे पर तरकारियों की एक दूकान लगा देगी।

—कौन मारा-मारा फिरे ? तब तक तो अपना भुल्लू भी सयाना हो जायगा, पर आज एकाएक भोला की यह हालत देखकर उसका उत्साह ठंडा हो गया। अभी तो गाली-गुप्ता ही है। कौन जाने, कभी हाथ भी उठाने लगें। उसने आँचल से आँसू पोंछे और रस-दाना उठा कर घर में लौट गयी। कब भुल्लू स्कूल से लौटा और कब जेब में बजड़ी का लावा भर कर गुल्ली-डंडा खेलने चला गया; उसे पता नहीं। हाँ, उसने बजड़ी की लिट्टी और बथुए का साग भुल्लू को दिया, उसे इतना मालूम है।

सुबह जब उसके दरवाजे पर शोरगुल हुआ तब एकाएक हड़बड़ा कर वह उठ बैठी। वह रात लौटे ही नहीं, और मैं ऐसी बावरी कि सो गयी बिना पता लिये। उसका मन थिर हो गया था।

लेकिन जब शोर बढ़ता गया, तब वह बाहर निकल आयी। बहुत-से आदमी देख कर वह चौंकी। क्या बात है ? घूम कर देखा, उसका खेत साफ हो चुका है। नहर आधे खेत तक पहुँच गयी है—पतले लम्बे खेत के ठीक बीचोंबीच। मजदूर कह रहे हैं, "यह तो ठीक नहर की ही नाप का खेत है।"

पचीसों फावड़े साथ ही उठ रहे हैं, साथ ही गिर रहे हैं। किसे पकड़ ले, किसे रोकले वह। पागल की तरह खेत में दौड़ने लगती है।

वहीं बगल में कैम्प के पास बहुत-से लोग किसी को घेरे खड़े हैं। पुलिस के आदमी पगड़ियाँ बाँधे घूम रहे हैं। गुलाबी दौड़ी जाती है तो देख कर धक् से रह जाती है।

"भल्लू के बापू, तुम ? क्या हो गया, तुम्हें ?" वह दौड़ कर भोला के पास पहुँच जाती है और बिफर कर रोने लगती है।

कल भोला को जब यह निश्चय हो गया कि उसका खेत किसी तरह नहीं बच सकता, तब वह घर नहीं लौट सका। एक बार उसके मन में आया कि अब पंछी को बसेरा छोड़ ही देना चाहिए, लेकिन फिर वह पाँच वर्ष पहले वाली काली रात, उसके सिर पर भूत की तरह सवार हो गयी।

—मेरी यह नन्हीं सी दुनिया कौन उजाड़ रहा है ? यह तिवारी ? हाँ यही, चलो उसी का गला घोट देता हूँ और वह रात के अँधेरे में डग बढ़ाता हुआ, कोठी के दरवाजे पर पहुँच गया। दरबान सो रहे थे। तिवारी सामने ही सोया था। भोला के हाथ ऐंठे, पर इसने तो अपना खेत बचाया है। सब अपना बचाने की कोशिश करते हैं। सबके अपने स्वार्थ···पर न्याय ? न्याय तो अफसर करता है न ?

—तो सारा दोस उस इन्जिनियड़ का है। धूर्त है, वह, वही सारे अनरथ की जड़ है। वह दौड़ता हुआ उसके कैम्प पहुँच गया। चपरासी सो रहे थे। कैम्प के द्वार के ठीक सामने पड़ी चारपाई पर इन्जीनियर की बीबी सोयी थी। उसका चेहरा लालटेन के हल्के प्रकाश में चमक रहा था। उसके होठों पर अजीब से मोह-स्वप्न की मुसकान व्याप्त थी। उसके माथे की बिंदिया···वह काँप गया।—गुलाबो, मेरी गुलाबो ? कितना दुख सहती हो तुम मेरे साथ···

—जाने कहाँ की है यह बेचारी ? मारी-मारी फिरती है ? उसका सारा शरीर काँपने लगा। यह तो नौकर है···इसका क्या दोष ?

—सरकार दोषी है, सरकार। उसकी भौहों पर बल पड़ गये। होठ फड़कने लगे। वह घूम कर सिवान में भागना चाहता था कि उसे सहसा खयाल आया,—लेकिन सरकार को क्या मालूम कि मेरे पास वही एक खेत है, मैंने पाँच बरस में आधे पेट खाकर उसे खरीदा है ?

वह रुक गया । लेकिन वह क्या करे ? कहाँ जाए ? सोचते-सोचते एक बार फिर वह कैम्प की तरफ घूमा, पर उसकी निगाह इन्जीनियर की पत्नी के चेहरे पर फिर थम गयी । नींद से बोझिल पलकों की छाया में रोशनी की पतली, काँपती रेखाओं को देखते-देखते उसे कई मिनट लग गये । गुलाबी की कोमल बरौनियाँ और आँसुओं में तिरती, बड़ी-बड़ी आम की फाँफ सी आँखें, उसके आगे नाच कर रह गयीं ।—कितना सब्र होता है इन आँखों में ? कितनी ममता, कितना त्याग ? वह भूल गया, सब कुछ भूल गया । इसी बीच जगजग हो गया और लोग अपनी चारपाइयों से उठ कर दौड़े, तो भोला उन्हें वहीं खड़ा मिला ।

भाग तो सकता था वह, पर भागा क्यों नहीं ? यह आप खुद सोचिए । भूमिहीन, श्रमजीवी भोला, पुलिस, तिवारी जी, इन्जीनियर और सरकार की हिरासत में है, इसलिए चोर अथवा खूनी कुछ भी कह सकते हैं उसे, क्योंकि गुलाबी के पास तो अब दौनों की पत्तियाँ भी नहीं रहीं ।

११

आया

भैरव प्रसाद गुप्त

मेरी परेशानी दिन-दिन बढ़ती जाती थी। बिल्कुल साँप-छछूँदर की गति थी। न निगलते बने, न उगलते।

करीब एक साल से यह आया मेरे यहाँ काम करती आ रही थी। कभी मुझे किसी शिकायत का मौका मिला हो, याद नहीं। गर्मी हो, बरसात हो, जाड़ा हो; हर मौसम में उसके आने-जाने का समय एक ही रहा। मेरे दफ्तर के वक्त पर जैसे मौसम का कभी कोई असर नहीं पड़ता, वैसे ही उस पर भी। जैसे मैं अपने दफ्तर के वक्त का पाबन्द, वैसे ही वह भी अपनी ड्यूटी पर चुस्त। मजाल है कि कभी खाना तैयार होने में दस-पाँच मिनट की भी देर हो जाय ?

यों सुबह-शाम खाना बनाने का ही वह मेरे यहाँ काम करती थी। लेकिन जैसे ही वह आयी, उसने घर का पूरा काम ही सँभाल लिया। अकेला आदमी था। वह भी कुछ लेखक किस्म का। दो-चार रोज जैसे ही सामान-वामान की कमी पड़ी कि उसने सब कुछ अपने हाथ में ले लिया। सौदा-सुलुफ, राशन-फाशन, सब चीजों से बेफिक्र हो मैंने आराम की साँस ली।

शुरू-शुरू में तो कुछ दिनों तक पूरा बनिया बनकर उससे खूब चौकस हिसाब-किताब लिया। हिसाब में जब एक-दो पैसे की कमी पड़ जाती, तो मैं कहता, "दो पैसे लाओ ?"

इस पर वह मुस्कराती हुई हाथ की चुटकी आगे बढ़ा देती और कहती, "इतने की चोरिन तो मैं हमेशा रहूँगी, बाबूजी ?"

उसकी चुटकी में दो पान देखकर मैं शरमा जाता।

धीरे-धीरे उसके खरेपन की धाक मुझ पर कुछ ऐसे जम गयी कि एक क्षण के लिए अपने पर तो अविश्वास हो सकता था, पर उस पर नहीं। ऐसे खरे व्यवहार की आया का जिक्र मेरे दोस्त सुनते, तो आश्चर्य करते। असम्भव ? लेकिन मैं तो अपने भाग्य को सराहता। वर्ना मेरे जैसे दुनियादारी में कच्चे, भावुक आदमी···

वह ग्यारह बच्चों को अपने शरीर का खून पिला चुकी थी। नौ जिन्दा थे। दो मर चुके थे। मरनेवालों में उसका पहलवठी का बेटा भी था। कभी-कभी आँखों में आँसू भरके वह उसका जिक्र करती। कहती, "वह जिन्दा रहता बाबूजी, तो आज आप ही के बराबर होता। बिलकुल आप ही का चेहरा-मोहरा था, बाबूजी ?" और उसकी आवाज भर्रा जाती। उस वक्त उससे आँख मिलाते न बनता। और वह भी आँचल से आँखें ढँके रसोई में चली जाती। वहाँ से उसकी सिसकियाँ काफी देर तक सुनायी पड़तीं। मैं उदास हो जाता। हृदय में न जाने क्यों उठता, "कहीं यह बूढ़ी अपने मरे बेटे का रूप तो मुझमें नहीं देखती ?" और उसके वह सच्चे व्यवहार जैसे चीख-चीखकर मेरे कानों में गुँजा देते, "हाँ, हाँ, शायद ?"

वह कई बार कह चुकी थी कि उसका आदमी और तीन कमासुत बेटे यह नहीं चाहते कि अब वह नौकरी करे। आखिरी बच्चे के बाद उसकी तन्दुरुस्ती ऐसी नहीं रही। लेकिन वह कहती, "अभी से जाँगर तोड़ के बैठ जाऊँ ? बाबूजी, आपके यहाँ काम करने में अहस नहीं लगता। जब तक आप नहीं निकालेंगे, बनी रहूँगी। उनके कहने से क्या होता है ? आपको मैं छोड़ूँगी नहीं, बाबूजी ?"

उसे क्या मालूम कि मैं खुद उसे छोड़ न सकता था। ऐसी आया क्या सबके भाग्य में होती है, जो बेटे की तरह···कितना लापरवाह, आरामपसन्द बना दिया था उसने मुझे ? उसके न रहने पर इन बिगड़ी आदतों के कारण मेरी क्या गति होगी, यह सोचकर ही काँप उठता। और शायद इसी भय से मैं उसे खुश भी रखने की कोशिश करता। और कभी-कभी पान लाकर अपने हाथ से उसे देता, तो वह ऐसे निहाल हो उठती कि उसके बूढ़े मुँह से दुआएँ वैसे ही झरने लगतीं, जैसे पतझड़ में पत्ते।

सचमुच यह उसके आराम का वक्त था। शरीर उसका टूट गया था। उम्र उसकी चालीस से ऊपर न होगी, लेकिन देखने में बिलकुल बूढ़ी लगती।

मांस उसके शरीर में कहीं रह न गया था। हाथ-पाँव सूखकर लकड़ी हो गये थे। चेहरे की चमड़ी बेपानी के पौधे की तरह मुरझा गयी थी। कल्ले बेडौल से हो उभर आये थे। आँखें गढ़ों में घुसकर बेतेल के दीये की तरह। हमेशा तर होठों से सावन की झड़ी की तरह हमेशा मुस्कान झरती रहती थी। वह कहती, "बाबूजी, खाना दो-चार रोज न मिले, तो काट लूँगी। लेकिन पान बिना तो एक घड़ी मैं जिन्दा नहीं रह सकती ?" उसकी सबसे बड़ी कमजोरी और शायद उसकी जिन्दगी की संजीवनी यही पान था। उसे खुश रखने का यह सस्ता नुस्खा मेरे हाथ अनायास ही लग गया था।

उसके शरीर को देखते उससे ज्यादा काम की उम्मीद नहीं की जा सकती और इस उम्मीद से मैंने उसे रखा भी न था। दो वक्त रोटी ठोंक देने से ही मेरा काम चल सकता था। और सब मैं खुद सँभाल लेने का आदी था। यों ज्यादा लवाजमात मेरे बस की नहीं, साधारण सब। लेकिन जब से इस आया का मेरे घर पर हाथ पड़ा, सब कुछ बदल गया। सफाई सजावट बढ़ गयी। बेकाम के कामों में भी उसे बेहद दिलचस्पी थी। मैं चुपचाप अपने लिखने-पढ़ने के काम में लगा रहता, और वह कुछ ऐसे अपने हाथों का जादू फेर देती कि घर चमक उठता।

एक वक्त झाड़ू देना भी काफी था, लेकिन वह दोनों वक्त देगी। और इधर-उधर झाड़-पोंछ का सिलसिला तो जब तक वह घर में रहती, चलता रहता। कोई बात है कि कहीं एक कागज का टुकड़ा या तिनका या जाला या गर्द का एक कण उसके देखने में रह जाय। एक बार शौक चर्राया था, तो दो फूलदान खरीद लाये थे। कुछ दिनों तक उनमें फूल भी सजाये थे। फिर उनके फूल सूख-कर रह गये। और फिर उन्हें उठाकर एक ताक पर रख दिया था। रोज-रोज का यह दर्द सर में कहाँ तक पालता ? लेकिन आया की नजर उन पर पड़ी, तो जैसे उनकी जिन्दगी लौट आयी। रोज सुबह उनमें रंग-बिरंगे फूल सजने लगे। वही हाल अगरबत्तियों का भी था। आलमारी में पड़ी रहतीं, लेकिन मुझसे इतना न होता कि जला दिया करूँ। लेकिन अब शाम होते ही पूरा घर खुशबू से भर जाता।

उसे मेरे हर काम का पता था। और बिना कहे ही वह सब पूरा कर देती, जैसे यह उसका ही घर हो, जैसे मेरी सारी जानी या अनजानी जरूरतें

उसकी अपनी ही हों। और मैं था कि बस ठाठ से अपने काम में जुटा रहता, हर बात से बेफिक्र।

कितने सकून और आराम की जिन्दगी थी ? उसने आने के पहले भी मैं यही था। लेकिन उसके आ जाने के कारण ही, सब कुछ वही रहने पर भी मेरी जिन्दगी बिल्कुल बदल गयी। पहले का वह होटल का सरकस, बेरस खाना और तितरा-बितरा घर, और समय और पैसे की बरबादी याद आती, तो आया की कीमत और उसके हाथों के जादू का महत्त्व ठीक-ठीक आँकना मुश्किल हो जाता। क्या खूब थी वह मेरी आया ? मेरा रोम-रोम उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठता। और मैं मनाता कि यह मेरी माँ हमेशा बनी रहे ? इतनी सस्ती और कारामद माँ किस जवान और कमाऊ पूत को नसीब हुई है ? कुल बीस रुपये महीना ही तो देता था मैं उसे सूखा। और उसकी जरूरतों की भी तो मुझे कोई चिन्ता न थी, जैसा कि जवान बेटों को अपनी माँ की होती है।

समय बीतता गया।

और फिर एक दिन अचानक ऐसा लगा कि जैसे सारा जादू टूट रहा हो। मेरी कुछ समझ में न आता, मन को विश्वास न होता, लेकिन महीने भर का खर्चा उस महीने दस तारीख को ही आया के हाथों खतम हो गया, और वह सर झुकाये मेरे सामने हाथ फैला खड़ी हो गयी, तो मैं एक अजीब दुविधा में पड़ गया। क्या समझूँ, क्या समझूँ। यथार्थ जो समझने को कहता, मन उसकी ओर से मुँह फेर लेता। दिमाग आँकड़ों को सामने रखता, तो दिल आँख मूँद लेता। छिः क्या ऐसा भी मुमकिन है कि आया···नहीं, नहीं, असम्भव ? और फिर मन समझाना ही पड़ता—शायद और किसी कारण से···कारण ही होगा। वर्ना मेरी आया—वह मेरी माँ···

और उस दिन पहली बार छुपकर आया को मैंने ऐसी नजर से देखा, जैसा कभी न किया था। और आया सचमुच बदली लगी।

उसके पीक से तर होंठ पहली बार मैंने खुश्क देखे। अब ध्यान दिया, तो यह भी याद आया कि उसकी तेज जबान भी इधर सुस्त पड़ गयी थी। और फिर इधर-उधर नजर पड़ी तो एकाध कागज के टुकड़े भी फर्श पर दिखायी पड़ गये। यह क्या बात ? और एक परेशानी का बीज उस दिन मेरे दिमाग में पड़ गया। आया के सूखे होंठ आँखों के सामने हर क्षण उस दिन बने रहे

और उसकी यह बात कानों में गूँजती रही—"बाबूजी, खाना दो-चार रोज न मिले, तो काट लूँगी। लेकिन पान बिना तो मैं एक घड़ी जिन्दा नहीं रह सकती। आज पहली बार उसके होंठ सूखे थे। यह क्या मामूली असाधारण बात थी ?

ऑफिस से लौटते समय मैंने चार बीड़े अच्छे पान लिये। आया की ओर बढ़ाये, तो वैसा न हुआ, जैसा बराबर होता। न उसके बढ़े हाथों में वह उत्सुकता थी, न आँखों में वह खुशी की चमक, न होंठों पर वह मुस्कराहट और न निहाल होकर उसने दुआएँ ही दीं।

अब भी क्या उसमें जो परिवर्तन हो आया था, उसमें शुबहे की कोई गुंजायश थी ? अपनी जान से भी प्यारी चीज के प्रति जब आदमी उदास हो जाता है, तो उसकी निराशा की सीमा का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता और न उसकी मनः स्थिति के ही बारे में कुछ ठीक-ठीक कहा जा सकता है। मेरी परेशानी बढ़ गयी। आखिर बात क्या है ?

और जब खाने की मेज पर बैठा, दो-तीन नन्हें-नन्हें गिधरोंए बच्चे मेरे इर्द-गिर्द खड़े भूखी, मैली आँखों से मुझे घूर रहे थे और एक फर्श पर अन्धे कीड़े की तरह रेंग रहा था, इधर-उधर हाथों से कुछ टटोलता। एक क्षण को तो मैं अचकचा सा गया। ये कुत्ते-बिल्ली के बच्चे कहाँ से प्रगट हुए ? आया कभी भी अपने किसी बच्चे को यहाँ नहीं लायी थी। फिर भी यह समझते देर न लगी कि ये उसी के बच्चे होंगे। और किसी के कहाँ से आयेंगे ? उनमें से एक करीब पाँच साल का था, दूसरा तीन साल, तीसरा दो साल और चौथा गोद का। सभी हड्डियों के ढाँचे, मैले-कुचेले, काले-कलूटे, नंगे, घिनौने मांस के हरकत करते हुए लोथड़े ? मेरा मन जाने कैसा हो गया।

तभी पाँच साल वाला सर झुकाये बोला, "सलाम, बाबूजी।" और दोनों हाथ सर से लगा जोड़ने की कोशिश की।

यह सलाम कितना अजीब और हृदय को भिन्ना देने वाला था ? मन खराब हो गया।

आया को पुकारना चाहा। लेकिन तभी वह बच्चा फिर बोला, "बाबूजी, आज घर रोटी नहीं बनी।"

उसकी वह बात कितने सयाने आदमी की थी ? हैरत ? यह बच्चा कैसे

सीख गया है यह सब ? और मैंने अपना पूरा खाना उनमें बाँट दिया। और उन्हें खाते देखता रहा। मेरा मन जाने कैसा होता रहा। और मेरे दिमाग में जाने क्या-क्या बातें उठती रहीं।

उठकर, उदास अपनी जगह पर आ बैठा, तो थोड़ी देर बाद आया आयी और सर झुकाये एक पर्चा मेरे आगे बढ़ाकर बोली, "बाबू जी, जरा देख तो लीजिए, इसमें क्या लिखा है।"

वह किसी साहब का दिया हुआ आया के आदमी का सर्टीफिकेट था। उसने लिखा था कि "यह आदमी बहुत ईमानदार, होशियार और मेहनती है। हिन्दुस्तानी और अँग्रेजी दोनों खाने बनाना बहुत अच्छी तरह जानता है। मुझे इसे छुड़ाते हुए बहुत अफसोस हो रहा है। लेकिन मैं इंग्लैंड जा रहा हूँ, इसलिए मजबूरी है।..."

मैंने आया को सब बता दिया। फिर पूछा, "कब से तुम्हारा आदमी बेकार है?"

"बीस दिन हो गये, बाबू जी," वह सर झुकाये बड़े ही दर्दनाक स्वर में बोली, "तीनों लड़कों की भी नौकरी छूट गयी है। ऐसी आफत कभी न पड़ी थी, बाबू जी ? आपकी जान-पहचान तो बहुत जगह होगी, कहीं..." और वह चली गयी।

और मेरी समझ में सब आ गया। उसके होंठ क्यों सूख गये, उसकी जबान क्यों बन्द हो गयी, मेरी जेब क्यों खाली हो गयी, मेरे घर की चाँदनी में धब्बे क्यों नजर आने लगे, उसकी ईमानदारी, माँपन, मेहनत और स्नेह क्यों बदल गये ? सब, सब समझ में आने लगा।

और मुझे गुस्सा आया, नफरत हुई। ऐसा था, तो उसने मुझसे क्यों न कहा : क्यों आप ही वह सब कुछ करने लगी ? क्यों इन घिनोने बच्चों को मेरे सर पर पटक दिया कि मेरा खाना भी हराम हो गया ? क्यों, क्यों ? क्या मैंने दुनिया भर का ठेका लिया है ? मैं चाहूँ तो भी क्या कुछ ज्यादा खर्च कर सकता हूँ ? साधारण आदमी हूँ। साधारण आमदनी है। यह सब कैसे चल सकता है मेरे यहाँ ? नहीं, नहीं, मुझे अब...अब साफ-साफ कहना ही पड़ेगा।

लेकिन कुछ कहना क्या आसान था ? एक बार जिसे माँ समझा था, नकली ही सही, फिर भी उससे कुछ कहना क्या आसान था ? रात भर नींद न आयी।

रात भर सोच में पड़ा रहा। कभी गुस्से और नफरत से दिल भर उठता और कभी न जाने क्यों कुछ ऐसा विचार उठता, जो मेरी समझ में न आता। अजब दुविधा में पड़ा रहा।

समय वैसे ही चलता रहा। चाँदनी के धब्बे बढ़ते गये। मेरी परेशानी दिन-दिन बढ़ती गयी। बिल्कुल साँप-छछूँदर की गति थी। न निगलते बने, न उगलते। क्या करूँ, क्या न करूँ ?

लेकिन ऐसे कब तक चलता ? एक न एक दिन तो मुझे कुछ तय करना ही होगा। कहाँ तक मेरे बस की बात है, मैं जानता था। एक दिन मैंने सोचा था कि इस आया को कभी नहीं छुड़ाऊँगा। वह थी भी ऐसी ही। किन्तु इधर जो मुझे कड़वे अनुभव हो रहे थे, उनसे मेरे विश्वास, आस्था और स्नेह की नींव हिल गयी थी। वह इतनी गहराई तक मेरे जीवन में उतर आयी थी कि सहसा उसके साथ विरोधी व्यवहार करना आसान न था। फिर भी यह रोज-रोज की किच-किच। कभी मेरे इर्द-गिर्द घिनोने बच्चे रेंग रहे हैं, कभी उसके बड़े लड़के मेरे खाने और चाय पर नजर गड़ाये खड़े हैं, कभी उसका आदमी बीड़ी के लिए पैसे माँग रहा है ? जैसे अब यह घर मेरा नहीं, उनका ही हो गया था। और सबके ऊपर मेरा बढ़ता खर्च। मेरा आराम हराम हो गया। खाना-पीना दुश्वार। एक अजब फिक्र कि इस मुसीबत से कैसे छुटकारा मिले ? कैसे आया से साफ-साफ कह दूँ कि···

कहना ही पड़ेगा। ऐसे अब नहीं चल सकता।

तभी एक दिन मेरे एक दोस्त मिलने आये। उनके एक किताब की दूकान थी। इधर उनका काम बढ़ गया था। प्रकाशन का भी कुछ काम उन्होंने शुरू कर दिया था। उन्हें एक चपरासी की जरूरत थी—ईमानदार, जाना-पहचाना। उन्होंने मुझसे कोई ऐसा आदमी देने को कहा—जल्द।

मुझे आया के बेकार आदमी का ख्याल आ गया। लेकिन फिर सोचा, वह तो कुक है। फिर भी उसी शाम मैंने उसे बुलवाया। पूछा, "भाई, एक मेरे दोस्त के यहाँ चपरासी की जगह खाली है। करोगे ?"

उसने दोनों हाथ उलझाकर, आँखों में उत्सुकता लाकर कहा, "करूँगा, बाबूजी ? आप···"

"तुमने कभी यह काम किया है ?"

"बहुत कुछ किया है, बाबूजी ! गवर्नमेन्ट प्रेस में चार साल तक चपरासी रहा । कई साहबों का ड्राइवर रह चुका हूँ । मोटर का भी कुछ काम जानता हूँ । रामा में दो साल सेलसमैनी भी कर चुका हूँ । और खाना बनाना तो मैंने पेट से ही…"

मैं कई क्षण तक उसका मुँह निहारता रहा । इतना सब होते भी बेकार ? मुझे आश्चर्य हो रहा था । क्या जमाना आ गया है ?

"कुछ पढ़ना-लिखना जानते हो ? बात यह है कि बैंक, डाकखाना…"

"थोड़ी-बहुत हिन्दी-अंग्रेजी जानता हूँ । सब कर लूँगा, बाबूजी ! आप उन्हें एक खत लिख दीजिए । आपको शिकायत का कोई मौका…"

और मैंने खत लिखते पूछा, "तनखाह के बारे में क्या लिखूँ ?"

"कुछ न लिखिए, बाबूजी ! इस वक्त तो दो सूखी रोटी भी मिल जाय तो पानी में भिगोकर…"

आया के होंठ दूसरे दिन तर थे । मुस्की भी उभरने-उभरने को हो रही थी । पूछा, तो मालूम हुआ कि उसके आदमी ने काम शुरू कर दिया । वह बोली, 'क्या बताऊँ, बाबूजी, बेकार को दुकानदार भी उधार नहीं देता । अब…'

संजोग की बात उसी वक्त मेरे एक प्रोफेसर मित्र को भी एक लड़के नौकर की जरूरत पड़ गयी । उनका पहला नौकर बीमार पड़ गया था । मैंने आया के सबसे बड़े लड़के को वहाँ भेजने के लिए बुलाया । पूछा, 'नौकरी करेगा ?'

'बड़ी मेहरबानी होगी, बाबूजी ?' आँखों में एक भिखारी की तरह याचना भरके वह तेरह-चौदह साल का लड़का ऐसे आँखें मलकाता, दयनीय स्वर में बोला कि मेरी आत्मा काँप उठी । हँसने-खेलने, पढ़ने-लिखने के दिन…

प्रोफेसर साहब के यहाँ वह काम करने लगा । और आया के दूसरे बड़े लड़के को मैंने अपने दफ्तर में टट्टियों में पानी छिड़कने के लिए रखवा दिया और तीसरे को एक होटल में बर्तन माँजने का काम मिल गया ।

और मेरे घर का मेला सहसा ऐसे उठ गया कि विश्वास ही नहीं होता । आया के होंठ अब पहले ही की तरह फिर हमेशा तर रहने लगे, मुस्कान झरने लगी और जबान तो जैसे पहले से भी ज्यादा तेज हो गयी । मेरे घर की चाँदनी

लौट आयी । वही सफाई, वही आराम, वही स्नेह, वही जादू—सब कुछ वही । और मैं सोचता कि···

महीने का अखीर आया, तो मैंने कहा, "आया, अबकी तुम्हारी तनखाह देर से मिलेगी । रुपये···"

वह सर झुकाकर, पैर के अँगूठे से फर्श कुरेदती बोली मन्द स्वर में, "बाबूजी, अभी तो आपके ही मेरे ऊपर पचासेक····"

"आया ?" मेरे मुँह से एक चीख निकल गयी ।

वह मेरे पैर पकड़कर गिड़गिड़ा उठी, "माफ कीजिए, बाबूजी ? मैं बेईमान नहीं । लेकिन···आप तो पढ़े-लिखे हैं, बाबूजी, आप क्या नहीं समझते··· बाबूजी, मैं मजबूर थी । बाबूजी, माफ कर दीजिए ? थोड़ा-थोड़ा हर महीने काट लीजियेगा । बाबूजी क्या बताऊँ···"

और उसकी बूढ़ी आँखों से झर-झर आँसू गिरे जा रहे थे । और मैं सोच रहा था—मैं पढ़ा-लिखा आदमी हूँ । मुझे समझाना चाहिए था । मुझे अपनी उस माँ आया को समझाना चाहिए था ? और मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि बिना समझे-बूझे मैंने उसके बारे में क्या-क्या··· ।

संकलित कहानियों का संक्षिप्त विवेचन

१. व्रत-भंग : जयशंकर प्रसाद

[श्री जयशंकर प्रसाद जैसी प्रतिभाएँ वहुत समय वाद अवतीर्ण होती हैं। वे श्रेष्ठ कवि, नाटककार, उपन्यासकार, निवन्धकार और वहुत बड़े दार्शनिक विचारक थे। उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था, यद्यपि स्कूली शिक्षा केवल आठवें तक हो पायी थी । काशी के प्रतिष्ठित वैश्य-कुल में सन् १८८९ में प्रसाद जी का जन्म हुआ। पिता का नाम देवीप्रसाद साहु था जो तम्बाकू और पान का पुश्तैनी व्यापार करते थे। प्रसाद जी के वाल्यकाल में ही माता-पिता का देहावसान हो गया और युवावस्था आते ही बड़े भाई नहीं रहे जिससे व्यापार का भार प्रसाद जी पर पड़ा। उन्होंने घर का व्यवसाय बड़ी तत्परता से सँभाला, अध्ययन भी करते रहे और साहित्य-सेवा की दृष्टि से सर्वोपरि सिद्ध हुए। सन् १९३७ में प्रसाद जी दिवंगत हुए।

प्रसाद जी वेद-पुराण और दर्शनशास्त्र के विज्ञ पण्डित थे ही; इतिहास, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के गम्भीर विचारक भी थे। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा भारत का अतीत पुनर्जीवित कर दिया। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, विशाख, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री और कामना प्रसिद्ध नाटक हैं; 'एक घूँट' एकांकी है। काव्य प्रतिभा प्रसाद जी की विलक्षण थी। वे छायावाद के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'कामायनी' महाकाव्य कालिदास के काव्य की तुलना में आता है। इसके अतिरिक्त 'आँसू', 'लहर', 'झरना' और 'प्रेमपथिक' उत्तम श्रेणी के काव्य हैं। 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यास पूरे हैं और 'इरावती' अधूरा रह गया। 'छाया',

'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'इन्द्रजाल' और 'आँचल' प्रसाद जी के कहानी-संग्रह हैं।

प्रसाद जी की कहानियों में भी काव्य का-सा आनन्द आता है। उनकी कहानियाँ भारतीय संस्कृति का गौरव प्रस्तुत करती हैं। वे मिथ्याचार के घोर विरोधी थे। उनकी प्रत्येक कहानी राष्ट्र की महिमा का कोई-न-कोई रहस्य उद्घाटित करके हमारे मन में उत्साह का जागरण लाती है। वे आधुनिक युग में भी प्राचीन गौरव लाने के पक्षपाती थे। उनका साहित्य हमें राष्ट्रीय उत्थान और जातीय महिमा का सन्देश देता है। इस दृष्टि से 'व्रत-भंग' शीर्षक कहानी को प्रतिनिधि माना जा सकता है।]

यह कहानी दम्भ और मिथ्याचार के ऊपर त्याग और सत्याचरण की विजय दिखाने हेतु लिखी गयी है। कपिञ्जल पाखण्डी पात्र है तो राधा का चरित्र भारतीय नारी की पातिव्रत गरिमा से आलोकित है और राधा के पति नन्दन का सेवाभाव हमें चकित कर देता है। तीनों पात्र अपने-अपने स्थान पर महत्त्व के हैं। पूरी कहानी में राधा का उज्ज्वल एवं विशाल चरित्र नन्दन तथा कपिञ्जल को अभिभूत करता हुआ देखा जा सकता है। कहानी के विविध तत्त्वों के आधार पर उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(१) **उद्देश्य**—'व्रत-भंग' कहानी का मुख्य उद्देश्य चरित्र का विशालता और त्याग एवं संकल्प की निष्ठा को प्रकट करना है। ढोंगी पात्र किस प्रकार अन्त में विफल होकर सच्चाई के समक्ष हार मानने को विवश होता है, यह भी इसका एक उद्देश्य है—साथ ही लेखक धनाधीशों के स्वार्थ एवं कृपणता का चित्र भी खींचना चाहता है। स्त्री का संयम कितना प्रभावशाली होता है, इसकी एक झलक प्रस्तुत करना प्रसादजी का लक्ष्य रहा है जो मुख्य उद्देश्य का प्राण है। धन का कुप्रभाव दिखाना भी एक उद्देश्य रहा है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—उक्त उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम कहानी में विविध पात्रों का चरित्र-चित्रण है। तीन पात्रों की ही प्रमुखता है—राधा, नन्दन और कपिञ्जल। तीनों सजीव पात्र हैं जिनके चरित्र का गठन भिन्न परिस्थितियों में हुआ है। राधा परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती, वह गंगा के समान निर्मल और पृथ्वी के समान सहनशील है। उसका पति नन्दन परि-

स्थितियों के सामने झुकने वाला होकर भी सेवाभाव से उच्च चरित्र का परिचय देता है। कपिञ्जल ढोंगी पात्र है जिसे अन्त में राधा और नन्दन के सामने झुकना पड़ता है।

(क) राधा एक धनाधीश की पुत्री है जिसे महारानी का स्नेह प्राप्त है। नन्दन का पिता कलश बड़ा ही कुख्यात सेठ है। जब राधा का नन्दन के साथ विवाह निश्चित होता है तो महारानी कलश की पुत्रवधू होने से राधा को रोकना चाहती है परन्तु राधा अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है और विवाह हो हो जाता है। कलश अब राधा का श्वशुर है जो बड़ा ही कंजूस प्रकृति का नगर सेठ है। वह साधु-वेषधारी कपिञ्जल का आदर इसलिए करता है कि इससे उसे अपने धन की वृद्धि की कामना और आशा है। कलश के आदेश से जब पूरा परिवार कपिञ्जल के दर्शन करने जाता है तो राधा उसे नग्न देखकर उसे असभ्य मानकर लौट पड़ती है और नन्दन के मनाने पर भी नहीं मानती। परिणामस्वरूप, कलश राधा का अपमान करता है और परिवार से उसे अलग कर देता है। नन्दन पिता का ही आज्ञापालक बना रहता है और राधा एक नौकर तथा एक नौकरानी के साथ उपवन के दुमंजिले घर में एकान्तवास करने को विवश हो जाती है। नन्दन कभी उसकी ओर नहीं जाता। राधा को अपने पतिव्रत धर्म पर पूर्ण विश्वास है। वह निष्ठा के साथ अज्ञातवास के दिन बिताती रहती है। उसके दान-धर्म में तब तक कमी नहीं आती जब तक वह आभूषण बेचकर काम चला सकती है। एक दिन ऐसा आता है कि खाने को भी घर में थोड़ा-सा ही अन्न बचता है तो राधा अपने अत्यन्त प्रिय दीपाधार को बेचने हेतु अनुचर को भेजती है। दीपाधार सोने का है, उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर धनी लोग दामों की बोली बोलने लगते हैं परन्तु इसी बीच नन्दन आकर दीपाधार को अपने घर की वस्तु कह छीन ले जाता है जिससे राधा को बड़ी व्यथा होती है, फिर भी वह चुप रहती है। वह भी दिन आता है जब गंगा और शोण नदियों की बाढ़ में गाँव के गाँव डूबने लगते हैं और नन्दन एक मल्लाह के साथ नाव लेकर लोगों की रक्षा के लिए चलता है परन्तु कलश के आदेश से नन्दन अपने ही घर में रक्षित लोगों को रखने में असमर्थ हो जाता है। तब राधा के ही घर में उसे रक्षा मिलती है। रात में कपिञ्जल भी डूबता-उतरता राधा के घर के पास ही मूर्छित नग्न अवस्था में पहुँचता है

और नन्दन उसकी रक्षा करता है। सबेरा होने पर कपिञ्जल को राधा के समक्ष नत होना पड़ता है और राधा के ही प्रभाव से नग्न रहने का व्रत उसे तोड़ना पड़ता है। यही 'व्रत-भंग' है जिसका सम्पूर्ण दायित्त्व राधा के विशाल चरित्र के ऊपर है।

इस प्रकार राधा का चरित्र अपरिवर्तनीय एवं स्थिर है जबकि उसकी तुलना में नन्दन और कपिञ्जल के चरित्र परिस्थतियों के दबाव से परिवर्तन लेते हैं। प्रसादजी ने राधा के द्वारा भारतीय नारी की दृढ़ निष्ठा का चित्र खींचा है।

(ख) नन्दन का चरित्र राधा के बाद अत्यन्त महत्त्व का है। नन्दन धन के वातावरण में पला है अतएव उसमें सबसे बड़ी दुर्बलता यह है, कि अपने पिता के सामने अनावश्यक रूप से विनम्र बना रहता है, यहाँ तक कि अपनी पत्नी राधा को पिता द्वारा अपमानित एवं लांछित होते देखता और चुप रहता है—राधा का परित्याग भी वह पिता के ही प्रभाव से करता है। नन्दन बहुत समय तक राधा से अलग रहता है, यहाँ तक कि उसे यह भी ज्ञात नहीं रहता कि वह कहाँ और किस प्रकार जीवन बिता रही है। जब स्वर्ण-दीपाधार बिकने जाता है और उसे नन्दन अपने यहाँ उठवा लाता है तब भी वह राधा की दुरवस्था की ओर उदासीन ही रहता है—यह वस्तुतः धनान्धता के कारण था। नन्दन की आँखें तब खुलीं जब उसके पिता ने दीन-हीन लोगों के साथ आये हुए सुपुत्र को भी महल में आश्रय नहीं पाने दिया।

नन्दन में चारित्रिक उच्चता के तत्त्व विद्यमान थे, इसीलिए भयानक बाढ़ आने पर वह जन-सेवा में जुट पड़ा और जान पर खेलकर बाढ़-पीड़ितों की रक्षा की। इसी सन्दर्भ में उसे राधा के यहाँ शरण मिली और कपिञ्जल की भी रक्षा करने में वह समर्थ हुआ। इस प्रकार नन्दन का चरित्र परिवर्तन लेता है। वह धनान्धता के यथार्थ से सेवा के आदर्श में उतरता है और यही उसका चारित्रिक पुनर्जन्म है।

(ग) कपिञ्जल नन्दन का बाल-सखा था परन्तु किसी बात पर नन्दन से असन्तुष्ट हो गया तो किसी प्रकार समझौता करने पर राजी न हुआ। कपिञ्जल के पाखण्ड से कलश को आशंका हुई कि उसकी सम्पत्ति पर कहीं संकट न आ जाय—कपिञ्जल ने नग्न साधु का बाना बना कर नन्दन को विपत्ति

में डालना चाहा और वह सफल भी हुआ। राधा को कुल का नाश करने वाली कह कर कपिञ्जल ने उसे एकान्तवास दिलाने के लिए कलश को उत्तेजना दी। कपिञ्जल का ढोंग तब तक चलता रहा जब तक बाढ़ में बह कर वह राधा और नन्दन की ही देख-रेख और सेवा का पात्र नहीं बना।

(३) **कथानक की संघटना**—चरित्र-चित्रण के प्रसंग में ही कथानक का संक्षिप्त परिचय आ गया है। कथानक प्राचीन इतिहास की छाया लेकर गढ़ा गया है। यद्यपि वह पूर्णतः काल्पनिक है फिर भी लगता है कि गुप्तकाल के आस-पास कहीं का युगजीवन साकार हो उठा है, यह प्रसाद जी की प्रतिभा का निदर्शन है। यहाँ कथानक के भागों को लेकर देखा जाय तो उसकी विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट हो जायेंगी :

(क) **आरम्भ**—कथानक का आरम्भ नन्दन और कपिञ्जल के वार्तालाप से हुआ है जिसमें कपिञ्जल मित्रता का धागा तोड़ कर चला जाता है और नन्दन की प्रार्थना मान कर उसे क्षमा करने को तैयार नहीं है। इसी से उस षड्यन्त्र का आभास मिल जाता है जिसे नग्नसाधु बन कर कपिञ्जल ने उसी परिवार को छिन्न-भिन्न करने के लिए रचा था।

(ख) **आरोह**—आरोह की अवस्था तब आती है जब राधा और नन्दन की विवाह-चर्चा चलती, विवाह हो जाता और दोनों का प्रगाढ़ स्नेहबन्धन एक आदर्श दाम्पत्य जीवन चित्र सामने आता है। अब तक उक्त षड्यन्त्र का कोई पता नहीं मिलता।

(ग) **चरम स्थिति**—जब नग्न साधु के वेष में प्रकट होने वाले कपिञ्जल के दर्शन हेतु कलश पूरा परिवार ले जाता और राधा साधु के दर्शन से इन्कार कर देती है; नन्दन के बार-बार समझाने पर भी लौट आती है; कपिञ्जल उसे कुलनाशिनी कह कर त्याज्य बताता है; कलश के अनुसार यह साधु का वचन सत्य माना जाता है और कलश अपमान करके राधा को परिवार से अलग कर देता है; तब चरम स्थिति की अवस्था आती है। कहानी का पाठक राधा को अपने एकान्त निवास-स्थान में एक दासी और एक ही अनुचर के साथ रहते संकट में पाता है। इस संकट की पराकाष्ठा तब होती है जब राधा के द्वारा सभी आंभूषण बेच दिये जाते हैं और दीपाधार को बेचने भेजा जाता है। परन्तु नन्दन दीपाधार अपने घर उठवा ले जाता है। यहाँ राधा की दयनीय दशा हमें एक विलक्षण त्याग और पतिव्रत का संकेत देती है।

(घ) **अवरोह**—बाढ़ का भयानक दृश्य आता है। नन्दन पीड़ितों को बचाने के लिए एक मल्लाह के साथ नाव लेकर दिन-रात सेवा में तत्पर हो जाता है। रात में जब बाढ़-पीड़ितों के साथ नन्दन को पिता के घर में रहने नहीं दिया जाता है तब नन्दन की असहाय अवस्था का ज्ञान होता है। वह विवश होकर अनजाने ही राधा के आवास की छत पर जाकर रहता है जहाँ दोनों का पुनर्मिलन होता है।

(ङ) **अन्त**—अन्त में कपिञ्जल भी बहता हुआ वहीं रात में शरण पाता है जिसमें नन्दन की तत्परता का बड़ा महत्त्व है। कपिञ्जल मूर्छित दशा में होता है और उसे कपड़े पहना दिये जाते हैं। प्रात: कपिञ्जल की चेतना लौटती है तो अपने को वस्त्र पहने पाकर वह चिल्लाता है कि उसे वस्त्र क्यों पहनाये गये—उसका 'व्रत-भंग' हो गया है। इस पर नन्दन कहता है कि वह ढोंग छोड़ कर अच्छा आचरण करे, यहाँ राधा का आदेश मान कर ही चलना होगा। इस प्रकार कपिञ्जल का 'व्रत-भंग' होता है और कहानी का पटाक्षेप हो जाता है।

(४) **शीर्षक की सार्थकता**—'व्रत-भंग' शीर्षक कपिञ्जल की भूमिका पर रखा गया है। कपिञ्जल केवल तीन बार थोड़ी देर के लिए ही कहानी में दिखायी पड़ता है। आरम्भ में नन्दन से मैत्री छोड़ने की घोषणा करता हुआ पहले देखा जाता है, फिर नग्न साधु के रूप में देखा जाता है और अन्त में वस्त्र धारण करने से उसका 'व्रत-भंग' होता है—नग्न रहने की प्रतिज्ञा उसे तोड़नी पड़ती है। इस व्रत-भंग या प्रतिज्ञा के टूटने में राधा के त्यागमय चरित्र का हाथ है। राधा ही कहानी में मुख्य पात्र है और व्रत-भंग कराने में उसका ही निष्ठा कारण है, इसी दृष्टि से प्रसाद ने कहानी का यह शीर्षक रखा है। राधा का कभी 'व्रत-भंग' नहीं होता, यह विरोधी तत्त्व भी शीर्षक से ही व्यक्त होता है, यह भी सार्थकता है।

(५) **घटना-संघर्ष**—'व्रत-भंग' कहानी में घटना-संघर्ष की प्रचुरता है। कपिञ्जल के साधुवेश में प्रकट होने और राधा के अपमान की घटनाएँ संघर्ष-प्रधान हैं। राधा का एकान्तवास जिन कष्टों में बीतता है उनमें अन्तर्द्वन्द्व की प्रमुखता है। राधा का विशाल चरित्र इन्हीं संघर्षों में निखरता है। बाढ़ का

दृश्य ऐसी घटना प्रस्तुत करता है जिस पर राधा और नन्दन के मिलन का दायित्व है और उसी घटना के परिणामस्वरूप कपिञ्जल का व्रत-भंग होता है।

(६) **भाषा**—प्रसाद जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है। 'व्रत-भंग' कहानी से उनकी भाषा का अच्छा परिचय मिलता है। ऐतिहासिक कथा-गठन के कारण भी यह आवश्यक था कि संस्कृत-शब्दावली का ही प्रयोग हो। वैसे तो भाषा भाव-प्रधान होने से अधिक काव्यमय हो गयी है, परन्तु पाठक कविता की ही भाषा में कहानी पढ़ता चलता है। एक उदाहरण पर्याप्त है :

"तुम कदाचित् जानते हो नन्दन कि कंगाल के मन में प्रलोभन के प्रति कितना विद्वेष है; क्योंकि वह उससे सदैव छल करता है—ठुकराता है।"

(७) **शैली**—कहानी इतिहास-शैली में ही लिखी गयी है परन्तु जिस नाटकीयता का निर्वाह आदि से अन्त तक हुआ है उससे कहानी की कथा सजीव हो उठी है। संवादों में इतनी मार्मिकता है कि पात्र जीवित प्रतीत होते हैं। संवाद वस्तुतः नाटकीय अभिनय के योग्य जान पड़ते हैं।

× × ×

इस प्रकार 'व्रत-भंग' शीर्षक कहानी सभी दृष्टियों से प्रसाद जी की प्रतिनिधि कहानी है। अतीत के माध्यम से राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की दिशा में प्रसाद के साहित्यिक प्रयास अमूल्य रहे हैं।

२. मैकू : प्रेमचन्द

[प्रेमचन्द जी हिन्दी-कथा-साहित्य में मूर्धन्य माने जाते हैं। उनका वास्तविक नाम 'धनपतराय' था। उनका जन्म सन् १८८० में वाराणसी जिले के लमही नामक गाँव में हुआ था। बाल्यकाल में ही माता-पिता के दिवंगत हो जाने से प्रेमचन्द जी को संघर्षों का सामना करना पड़ा। किसी प्रकार बी० ए० होकर वे नौकरी करने लगे—आगे चल कर वे उप-जिला-विद्यालय-निरीक्षक हो गये परन्तु 'प्रेमचन्द' नाम से वे सरकार-विरोधी साहित्य लिखते और छपाते रहे। सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन के समय उन्होंने नौकरी छोड़ दी। अब वे पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे।

उन्होंने 'जागरण', 'माधुरी' आदि अनेक पत्रिकाओं के सम्पादकीय कार्य किये और 'हंस' पत्रिका तो वे जीवन भर चलाते रहे ।

प्रेमचन्द का साहित्यिक कार्य 'उर्दू' से प्रारम्भ हुआ । आज भी उर्दू वाले उन्हें अपना लेखक मानने में गर्व अनुभव करते हैं। उर्दू में उनका कहानी-संग्रह 'सोजेवतन' बहुत प्रसिद्ध है जिसे सन् १९०९ में सरकार ने ज़ब्त कर लिया था । हिन्दी में 'मानसरोवर' नाम से अनेक भागों में कहानी-संकलन उपलब्ध है । प्रेमचन्द जी हिन्दी के महान् उपन्यासकार थे । सेवासदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रङ्गभूमि, कायाकल्प आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं । 'गोदान' तो ऐसा उपन्यास है जिसने विश्व-साहित्य में स्थान पाया है और अनेक सभ्य भाषाओं में उसके विदेशों में अनुवाद हुए हैं । सागर विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में 'क्लैसिक' अध्ययन में 'गोदान' के अंग्रेजी अनुवाद को स्थान दिया गया है ।

प्रेमचन्द युगान्तरकारी एवं युगद्रष्टा साहित्यकार थे । उनकी गणना चैख़ब, मैक्सिमगोर्की आदि उच्चकोटि के विश्व-कथाकारों में की जाती है। उनके समय में कथा-साहित्य के क्षेत्र में दो दल—आदर्शवाद और यथार्थ-वाद नाम से—चल रहे थे । आदर्शवादी कथाकार जीवन के आदर्श-पक्ष को ही कला में स्थान देने की वकालत करते थे । उनका कहना था कि जीवन की बुराइयों पर अच्छाइयों की विजय दिखाना साहित्यकार का कर्तव्य है, जिससे साहित्य का सामाजिक उपयोग हो, उससे जीवन में सुधार लाने वाली शिक्षा मिल सके । इस मान्यता के विरुद्ध यथार्थवादी लोग यह कहते थे कि जीवन में सदैव अच्छाइयों की जीत नहीं देखी जाती, उलटे होता यह है कि बुराई से उन्नति करने वाले ही विजयी देखे जाते हैं । अतः यथार्थ जीवन का चित्रणमात्र कर देना साहित्य का कर्तव्य है । जैसे-का-तैसा जीवन-चित्र देकर ही सुधार लाया जा सकता है । प्रेमचन्द जी ने इन दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करके कथाकार के लिए नया सिद्धान्त स्थिर किया और उसे "आदर्शोन्मुख यर्थथावाद" नाम दिया । उनका कहना था कि आदर्श को यथार्थ से दूर न होना चाहिए और न ही आदर्श की अवहेलना कर के कोरे यथार्थ का अनुसरण करना चाहिए । कोरा यथार्थ उद्देश्यहीन होता है और शुद्ध

आदर्श आधारहीन। कलाकार का कर्तव्य है कि जीवन का यथार्थ चित्र देता हुआ उसमें आदर्श की प्रतिष्ठा करे जिससे साहित्य द्वारा जीवन के निर्माण में सहायता मिल सके। सारांश यह है कि प्रेमचन्द जी उपयोगितावादी कथाकार थे। वे सामाजिक जीवन के उत्थान और राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण के दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास की रचना करने वाले महान् कलाकार थे।

प्रेमचन्द जी नीच से नीच कहे जाने वाले पात्र में भी आदर्श तत्त्व खोज लेते थे परन्तु यथार्थ से कभी हटते न थे। इसी विशेषता के कारण आज भी उनकी कथाओं का सम्मान है। इस दृष्टि से 'मैकू' कहानी को प्रतिनिधि मान सकते हैं।]

'मैकू' शीर्षक कहानी 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली महत्त्वपूर्ण कहानी है। राष्ट्र-जीवन का वह पक्ष इसमें उभारा गया है जिसमें निम्नकोटि का पात्र 'मैकू' ऐसा बड़ा कार्य कर दिखाता है जिसे नेतागीरी भी सदैव नहीं कर पाती। इस कहानी की अनेक विशेषताएँ हैं जिन्हें क्रम से नीचे दिया जा रहा है :

(१) **वातावरण**—कहानी में उस समय की परिस्थितियों का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है जब गाँधी जी ने देश में शराबबन्दी का आन्दोलन चलाया था। कांग्रेस के वालंटियर शराबों की दुकानों पर धरना देते थे, पुलिस उन्हें मारती-पीटती और पकड़-धकड़ करती थी, फिर भी आन्दोलन चालू रहता था। शराब की दूकानों के मालिक इतना हैरान थे कि मुफ्त शराब पिलाने का प्रलोभन देकर कुछ गुण्डे पियक्कड़ों का स्वागत करते थे। उन्हीं गुण्डों में एक 'मैकू' भी है। वातावरण का चित्रण इतनी छोटी कहानी में इतना रोचक बन पड़ा है कि उस समय का चित्र खड़ा हो जाता है।

(२) **उद्देश्य**—कहानी का मुख्य उद्देश्य मैकू के चरित्र द्वारा जीवन का वह पक्ष उद्घाटित करना है जिसके द्वारा दिखाया जा सके कि अधम कहे जाने वाले व्यक्ति में भी राष्ट्र-भावना की दबी चिनगारी रहती है, उच्च विचारों के तत्त्व रहते हैं और वे तत्त्व परिस्थिति-विशेष में उभर कर कुछ ऐसी प्रेरणा देते हैं कि चरित्र में अचानक परिवर्तन आकर हमें चकित कर देता है। जब

देश एक महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, तब छोटे लोग जो कुछ कर जाते हैं, उसका इतिहास में उल्लेख भले ही न हो पर उन्हीं के आधार पर क्रान्ति पल्लवित होती है । आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की दृष्टि से उद्देश्य का यह रूप अत्यन्त आकर्षक है कि मैकू जैसा पियक्कड़ भी निर्भय होकर शराब-बन्दी का नेतृत्व कर चलता है ।

(३) **चारित्रिक परिवर्तन**—मैकू के चरित्र में अचानक उसके सामान्य पियक्कड़ स्वभाव के विरुद्ध शराब के प्रति घृणा का भाव उभर आता है। इतना ही नहीं, वह शराबियों और शराब बेचने वालों का घोर शत्रु हो जाता है। यह सब क्षण भर में उसके भीतर घटित होता और वही मैकू, जिसने दूकान के द्वार पर काँग्रेसी वालंटियर को शराब पीने से रोकने के लिए जोर का चाँटा जड़ दिया था; दुकान के भीतर जाकर अपने को पूर्णत: बदल लेता है। यह परिवर्तन दूकानदार या अन्य कोई जान नहीं पाता—यहाँ तक कि मैकू का साथी कादिर भी अनभिज्ञ रहता है। दूकानदार वालंटियरों को पीटने के लिए उसे मोटा मजबूत डण्डा थमाता है परन्तु मैकू उसी डण्डे से दूकान-दार को बुरी तरह पीटता तथा पियक्कड़ों को भगा देता है । उसमें इतनी उत्तेजना है कि शराब के घड़ों और बोतलों को चकनाचूर कर डालता है ।

मैकू का यह रूप देखकर कादिर उस पर आश्चर्य प्रकट करता है तो वह कादिर पर भी बिगड़ खड़ा होता है। इतना ही नहीं, वह पुलिस तक से डरता नहीं। वह जेल जाने को तैयार हो जाता है। इस सबसे बड़ी बात तो पहले ही हो गयी होती, जब मुफ्त दी जाने वाली कीमती शराब पीने से वह इन्कार करता है—इन्कार करने का उसका ढंग भी रोचक है; वह केवल पीने की अनिच्छा भर प्रकट करता है जिससे उसके मानसिक परिवर्तन की बात किसी की समझ में नहीं आती ।

इस विशाल परिवर्तन का मूल कारण भी विचित्र था। जब उसने वालं-टियर को चाँटा मारा था तब मैकू ने उसके गाल पर उँगलियों के निशान देखे थे और देखा था कि वह वालंटियर मूर्छित जैसा हो गया था, फिर वालं-टियर ने अपने कर्तव्य के अनुसार बड़े स्नेह से शराब न पीने की प्रार्थना की थी। वहीं मैकू का पत्थर जैसा कठोर हृदय मोम-सा पिघल उठा था । उसने चुपचाप शराब न पीने की बात मान ली थी। फिर भी अन्दर जाकर वह

पीने से बाज आयेगा, यह विश्वास पहले नहीं होता। जब उसके हृदय-परिवर्तन का परिचय मिलता है तब अचानक पता लगता है कि शराब उसने छोड़ ही नहीं दी है। वह उसका घोर विरोधी हो गया है। कादिर के पूछने पर मैकू का उत्तर हृदय-परिवर्तन का उत्तम उदाहरण है :

"हाँ, अल्लाह का शुक्र है कि मैं जो करने आया था, वह न करके कुछ और ही कर बैठा।...... मैंने जो एक थप्पड़ लगाया, उसका रंज अभी तक है और हमेशा रहेगा। तमाचे के निशान मेरे कलेजे पर बन गये हैं।"

जो मैकू सभी की घृणा का पात्र था उसी की ओर सब श्रद्धा से देखते हैं।

(४) **हृदय-परिवर्तन का स्वरूप**—मैकू का हृदय-परिवर्तन विचित्र रीति से दिखाया गया है। उसमें कोरा आदर्शवाद नहीं बघारा गया है। प्रेमचन्द ठीक जानते थे कि वह पात्र जिसमें हिंसा ही चरित्र का सर्वस्व रहती है, एक-दम कभी अहिंसा का भक्त नहीं बन सकता। यही हो सकता है कि हिंसा का स्वभाव नया मोड़ ले ले। मैकू के चरित्र में वही हुआ भी। उसकी हिंसा निरपराध कांग्रेसियों से उलटकर शराबियों और शराब बेचने वालों की ओर मुड़ गयी। यह मोड़ अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। पाठक इस तथ्य पर मुग्ध होकर रह जाता है। मैकू का यथार्थ स्वभाव वैसे-का-वैसा (हिंसक) बना रहा है। फिर वह एक आदर्श पात्र बन गया है, यह विलक्षण है। वह शराबियों को ललकार कर कहता है :

"मैं कल फिर आऊँगा। अगर तुम में से किसी को यहाँ देखा तो खून ही पी जाऊँगा।...... घर में तो फाके हो रहे हैं, घरवाली तुम्हारे नाम को रो रही है, और तुम यहाँ बैठे पी रहे हो? लानत है इस नशेबाजी पर।"

(५) **शैली**—उर्दू के शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा अत्यन्त रोचक हो गयी है। कहानी की भाषा मँजी हुई शुद्ध हिन्दी है जिसमें संस्कृत शब्दों का आडम्बर नहीं है। वस्तुतः प्रेमचन्द ने मुसलमान पात्र को लिया है, अतः उसके द्वारा उर्दू शब्दों का प्रयोग कराना ही उचित भी था, फिर भी फारसी शब्दों से बोझिल उर्दू का प्रयोग नहीं हुआ है।

जहाँ तक कथा-शैली का सम्बन्ध है, वह प्रचलित इतिहास शैली ही है। जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती चलती है। पाठक की सुरुचि का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कहीं भी निरर्थक शब्द या वाक्य नहीं लाये गये हैं।

(६) **कथानक**—'मैकू' कहानी का कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। कादिर के साथ मैकू ताड़ीखाने पहुँचता है। वहाँ वालंटियर धरना दे रहे हैं। पुलिस वाले भी मौजूद हैं। एक वालंटियर मैकू और कादिर को ताड़ीखाने में घुसने से रोकना चाहता है तो मैकू उसे जोर का चाँटा मारता है। वालंटियर फिर भी शराब न पीने की बिनती करता रहता है। मैकू शराब न पीने को कहकर अन्दर जाता है पर वहाँ दूकानदार द्वारा मुफ्त दी हुई अच्छी शराब भी नहीं पीता। दूकानदार वालंटियरों को पीटने को उकसाता है तो मैकू उससे डण्डा माँगता है। डण्डा मिलने पर वह बाहर की ओर चलता है। तमाशा देखने को दूकान-दार द्वार पर खड़ा होता है कि मैकू उसे ही डण्डे से पीटता है। वह गिर जाता है। मैकू अन्दर जाकर मटकों और बोतलों को डण्डे से चूर-चूर कर डालता है। शराबियों को भी मारने चलता है तो वे सब दूकानदार के चोट खाये शरीर को रौंदते हुए निकल भागते हैं। अन्त में मैकू वालंटियर को मारने का दुःख प्रकट करता हुआ सभी पियक्कड़ों से शराब न पीने का आदेश देता है।

कथानक में पाँचों भागों का उचित समावेश भी देखा जा सकता है—(१) ताड़ीखाने में मैकू और कादिर का पहुँचना कथा का 'आरम्भ' भाग है जो अत्यन्त रोचक है। (२) वालंटियर को मारने से लेकर अन्दर पहुँचने तक 'आरोह' भाग है जिसमें पाठक की जिज्ञासा बढ़ती है। (३) डण्डे से पीट-पाट करने में 'चरम स्थिति' के दर्शन होते हैं और इस भाग में पाठक को एक विचित्र आनन्द मिलता है जिसे रौद्र रस कहा जाता है। (४) 'अवरोह' भाग में मैकू और कादिर में संक्षिप्त वार्तालाप कराया गया है जिससे हृदय-परिवर्तन का रहस्य समझ में आता है और पाठक में वीर रस का आनन्द उदय लेता है। (५) अन्त में मैकू शराबियों को उपदेश अथवा आदेश देता है तथा सब उसे श्रद्धा से देखते हैं।

× × ×

इन सब दृष्टियों से समीक्षा करके हम पाते हैं कि 'मैकू' शीर्षक कहानी प्रेमचन्द की प्रतिनिधि कहानी है जो अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल है।

३. न्याय-मन्त्री : सुदर्शन

[सुदर्शन प्रमचन्द युग के कहानीकार थे। उन्होंने अपनी कथाओं के माध्यम से मानवीय आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से सुदर्शन की कहानियों का सर्वोत्तम उपयोग है, अतः उन्हें हम उपयोगितावादी एवं मानवतावादी कथाकार निःसंकोच कह सकते हैं। मनुष्य को, जैसा हम सामान्यतः देखते हैं, वह गुणों और अव-गुणों का मिला-जुला रूप होता है; परन्तु गुणों को उभारकर प्रस्तुत करना एक आदर्शवादी साहित्यकार का लक्ष्य रहता है, इस दृष्टि से हम सुदर्शन को आदर्शवादी भी कह सकते हैं। परन्तु उनका आदर्शवाद कहीं भी यथार्थ का धरातल छोड़कर नहीं चलता, अतः वे अपनी कहानियों में प्रेमचन्द के अधिकतम निकट पड़ते हैं।

सुदर्शन पंजाबी थे, अतः उर्दू पर उनका अपेक्षित अधिकार था परन्तु उन्होंने हिन्दी में जो शैली अपनायी उसमें उर्दू का प्रभाव अत्यन्त अल्प है। प्रेमचन्द के समान ही उनकी भाषा सरल एवं स्पष्ट होती है जिसमें स्वाभा-विक प्रवाह है। सुदर्शन अपने युग की उपेक्षा नहीं करते परन्तु युग में ही बँधकर भी नहीं रह जाते। वे अपनी कहानियों में सनातन तत्त्वों का समावेश करते हैं, अतः कहानियों का रस कभी समाप्त नहीं होता—यह ऐसी विशेषता है जो उन्हें प्रसादजी के निकट लाती है परन्तु प्रसाद के समान उनकी भाषा-शैली में संस्कृत का गहन प्रभाव नहीं है।

सुदर्शन की दृष्टि मनुष्य के उच्च एवं उदात्त गौरव पर टिकी रहती है और उसे ही उभार कर रखने में वे साहित्य की सार्थकता मानते हैं। उनकी कहानियों में सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है। कहा जाता है कि 'मनुष्य से बड़ा संसार में कुछ नहीं।' उसी मनुष्य की खोज करना सुदर्शन का ध्येय जान पड़ता है। यही कारण है कि सुदर्शन की कहानी पढ़कर लगता है कि हम एक ऐसे मनुष्य के सामने आ गये हैं जिसमें संसार भर के अन्याय को मिटा डालने की शक्ति है।]

'न्याय-मन्त्री' शीर्षक कहानी सुदर्शनजी के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। आज कैसा न्यायाधीश होना चाहिए जो निर्भीक होकर निर्णय दे सके, यही इस कहानी का विषय है। कहानी का कथानक इतिहास के प्राचीन खण्ड से चुना गया है जो बहुत कुछ काल्पनिक होकर वातावरण की दृष्टि से ऐतिहासिक है और भारतीय न्यायप्रियता का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का मुख्य उद्देश्य सच्चे न्याय-प्रेमी न्यायाधीश का उदाहरण प्रस्तुत करना है—ऐसा न्यायाधीश जो सम्राट् से डरकर अपने निर्णय बदलता न हो, प्रत्युत अपने विवेक और अपनी सत्यनिष्ठा पर अविचल रहकर हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक करने में कुशल हो। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं गुप्तचर का काम करने में समर्थ हो और राज-शक्ति से मिले हुए अधिकार का अन्यायी राजा पर भी उपयोग करने में हिचकता न हो। शिशुपाल ब्राह्मण का ऐसा ही दृष्टान्त यह कहानी प्रस्तुत करती है जो सम्राट् को दोषी सिद्ध करके उसे दण्ड देने की व्यवस्था करता है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—इस कहानी में 'शिशुपाल' का चरित्र-चित्रण ही प्रधान है। कहना चाहिए कि कहानी ही चरित्र-प्रधान है। 'न्याय-मन्त्री' शीर्षक ही संकेत करता है कि कहानी में न्याय की समस्या का कोई महत्त्वपूर्ण चित्र है। शिशुपाल का चरित्र ही कहानी को अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल बनाता है। शिशुपाल में अनेक गुण हैं :

(क) शिशुपाल स्वाभिमानी ब्राह्मण है। जब सम्राट् परदेशी के रूप में उसके यहाँ एक रात रहता है और उसके पुत्र की सेवा की प्रशंसा करते हुए उसे 'बड़े काम का' कह देता है तो शिशुपाल उसे अनुचित मानकर रोष व्यक्त करता है। उसमें जातीय अभिमान भी हैं, अतः वह अशोक से कहता है—

"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

(ख) अन्याय के प्रति शिशुपाल के मन में आक्रोश है। वह अशोक से कहता है—"आजकल बड़ा अन्याय हो रहा है। अन्याय देखकर मेरा रक्त उबलने लगता है।" और अशोक के द्वारा ललकारे जाने पर शिशुपाल ने 'न्याय का डंका' बजवा देने की प्रतिज्ञा भी करली, यहाँ तक कि जब दरबार में पूछा गया तब भी स्पष्ट कह दिया कि झूठ नहीं बोला था।

(ग) शिशुपाल का अन्याय के प्रति आक्रोश कोरा आदर्श नहीं था, अपने आदर्श को यथार्थ बना देने की उसमें लगन भी थी। राज्य में शिशुपाल की न्यायप्रियता इसीलिए प्रसिद्धि पा सकी कि वह किसी को न्याय-मन्त्री के पद से आतंकित नहीं करता था, परन्तु कोई अन्याय करके दंडित हुए बिना बच नहीं सकता था। सम्राट् अशोक के द्वारा किये हुए भ्रष्टाचार का पता लगाने में वह बड़े कष्ट उठाता है—रात-रात एक करके जब सम्राट् का अपराध खोज लेता है तब दरबार में ही उन्हें बन्दी बनाने का आदेश देता है। वह निर्भय होकर सम्राट् के प्राणदण्ड की आज्ञा देता है।

(घ) जब सम्राट् न्याय-मन्त्री का निर्णय मान लेता है तब वह न्याय में संशोधन भी कर देता है—"महाराज को चेतावनी देकर छोड़ दिया जाय और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकायी जाय जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

(ङ) शिशुपाल न्याय-मन्त्री के पद पर बने रह कर ऐश्वर्य भोगने की लालसा नहीं रखता। सम्राट् के विरुद्ध अपना निर्णय देने के अनन्तर वह अपना पदभार अशोक को लौटालने पहुँचता है और अशोक विवश है कि उसे ही न्याय-मन्त्री का पद सौंपे रहे, जिससे प्रजा उचित न्याय पाती रह सके। सम्राट् कहते हैं—"मुझे अपने राज्य में कोई दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नजर नहीं आता है।"

हम देखते हैं कि अंग्रेजी राजत्त्व-काल में सुदर्शन ने जिस चरित्र की कल्पना की थी वह आज स्वतन्त्र भारत में कितनी आवश्यक है। लेखक ने हमारी जाति पर बड़ा भारी कर्तव्य-भार डाला है। उसे निभाने की हम में शक्ति चाहिए, गम्भीर निष्ठा की अपेक्षा है; त्याग और संयम की ही नहीं, करने अथवा मरने की लगन आवश्यक है।

(३) **कथानक**—एक ही चरित्र का चित्रण करने वाली 'न्याय-मन्त्री' कहानी का कथावस्तु अत्यन्त स्पष्ट है। आरम्भ से अन्त तक हम विविध पहलुओं में शिशुपाल के चरित्र का दर्शन करते हैं और मन्त्रमुग्ध-से होते रहते हैं। कथानक अपने सभी विभागों में पूर्णतः सफल एवं स्पष्ट है :

(क) **आरम्भ**—कथा का आरम्भ शिशुपाल के यहाँ सम्राट् अशोक के अतिथिरूप में आने से होता है जिसमें अन्याय के प्रति शिशुपाल का आक्रोश

और उसकी न्यायनिष्ठा की प्रतिज्ञा का चित्र उपस्थित होता है। अशोक के विस्तृत साम्राज्य में 'शेर और बकरी का एक घाट पानी पीने वाला न्याय' क्या सम्भव हो सकता है, यह सन्देह मन में उत्पन्न होता है और उत्तरोत्तर हमारी दृष्टि ऐसे ही न्याय की खोज में लग जाती है।

(ख) **आरोह**—कथा आगे बढ़ती है। शिशुपाल महाराज अशोक के द्वारा बुलाया जाता है और वह सम्राट् को देख कर काँप उठता है कि परदेशी अतिथि के रूप में अशोक उसके यहाँ एक रात रुका था और उसने सम्राट् से कुछ रोषपूर्ण बातें कही थीं तथा राज्य में अन्याय का हवाला दिया था। शिशुपाल का घबराना स्वाभाविक था क्योंकि सम्राट् उसकी बातों को बुरा मान सकता है और दण्ड दे सकता है।

सम्राट् शिशुपाल को न्याय-मन्त्री बना देता है, इस अवसर पर जिज्ञासा तथा अन्तर्द्वन्द्व का और भी आरोह (चढ़ाव) होता है। वह पदभार सँभाल लेता है।

(ग) **चरम स्थिति**—महाराज अशोक अपने शासकीय अभिमान में एक कर्तव्यपालक पहरेदार का वध करके एक स्त्री का सतीत्व छीनने जा पहुँचता है। दूसरे दिन इस घटना पर आश्चर्य होता है। सम्राट् के बारे में किसी की कल्पना भी नहीं हो सकती थी क्योंकि वह साधारण वेश में गया था और रात की घटना थी। सम्राट् न्याय-मन्त्री की परीक्षा लेना चाहता है। वह शिशुपाल का तीन दिन में पता लगा कर अपराधी को दण्डित करने का आदेश देता है। पता न लगने पर शिशुपाल को प्राणदण्ड देने को भी कहता है। रात-रात जगकर शिशुपाल खोज करता हुआ अन्ततः उसी स्त्री से सब हाल जान लेता है जिसके यहाँ यह घटना हुई थी। फिर क्या था, तीसरे दिन जब न्याय-मन्त्री के भाग्य-निर्णय को जानने के लिए दरबार खचाखच भरा था तब शिशुपाल आता है और सम्राट् को ही बन्दी बना लेता है। यह न्याय की चरम सीमा है और न्याय-मन्त्री के पद की परीक्षा यहीं सफलता पाती है।

कहानी का मूल उद्देश्य यहीं पूरा हो जाता है।

(घ) **अवरोह**—कथानक उतार पर आता है। न्याय-मन्त्री शिशुपाल अशोक सम्राट् को प्राणदण्ड न देकर उसकी मूर्ति को फाँसी पर चढ़वा कर सम्राट् को चेतावनी देकर छोड़ देता है। उसका उद्देश्य प्रजा को शिक्षा

देना था कि अन्याय करने पर सम्राट भी बच नहीं सकता। न्याय की दृष्टि में सभी समान हैं।

(ग) **अन्त**—अन्त में शिशुपाल अपने को न्याय-मन्त्री के पद से मुक्त करना चाहता है जिससे उसकी कर्तव्यनिष्ठा का पता चलता है और त्यागमय चरित्र का भी। अशोक उसके समान योग्य व्यक्ति न पाकर उसे ही न्याय-मन्त्री बने रहने की प्रार्थना करता है।

हम देखते हैं कि उच्च चरित्र ही शासन का सर्वस्व है; सच्ची न्याय-प्रियता ही राज्य का प्राण है।

(४) **भाषा**—भाषा परिमार्जित है और अत्यन्त स्पष्ट है। कहीं समझने में अटकाव नहीं आता। उर्दू शब्दावली के यत्र-तत्र प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति और भी तीव्र हो गयी है। परन्तु अशोक के समय के कथानक में संवादों की भाषा उर्दू शब्दों से युक्त हो तो उसमें यथार्थ का अभाव अवश्य खटकेगा। सुदर्शन ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है।

"परदेशी ने पैंतरा बदल कर उत्तर दिया—शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।"

"उसने ब्राह्मण से कहा—······सेवा-भाव देख कर जी खुश हो गया।"

"पहरेदार ने पीछे हट कर कहा—आप गलती पर हैं।"

"अशोक ने यह बात काट कर कहा—······दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नजर नहीं आ रहा है।"

इन संवादों में 'शेर', 'खुश', 'गलती', 'नजर' ऐसे विदेशी शब्द हैं जिनके स्थान पर भारतीय शब्द ही उचित हैं क्योंकि वक्ता २५०० वर्ष पूर्व के भारतीय हैं। सुदर्शन ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है, अन्यथा उनकी इसी कहानी में संस्कृतनिष्ठ शब्दों वाले संवाद कम नहीं हैं। उदाहरणार्थ :

"अशोक ! तुमने एक कर्मचारी की हत्या की है। मैं तुम्हारे बध की आज्ञा देता हूँ।"

(५) **शैली**—कहानी इतिहास-शैली में लिखी गयी है। संवादों और घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा कथा में नाटकीयता लायी गयी है। कथा का गठन ऐसा है कि रहस्य छिपा रहता है और जिज्ञासा तीव्र करता रहता है।

(६) **संवाद**—कहानी में न्याय-मन्त्री के संवाद आदि से अन्त तक उसके निर्भीक चरित्र की सूचना देते हैं और अत्यन्त उदात्त शब्दावली में गूँथे गये हैं। संवादों में सर्वत्र दृढ़ता और ओज के तत्त्व विद्यमान हैं। पहरेदार के संवादों में भी वही ओज निरन्तर देखा जा सकता है जो न्याय-मन्त्री की दृढ़ता और निष्ठा की सूचना देता है :

"तुमको इस पद पर किसने नियत किया है ?"

"न्याय-मन्त्री ने।"

"मूर्खता न करो, मैं उसे मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय यदि महाराज अशोक आ जायँ तो भी न टलूँगा।"

× × ×

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कहानी मार्मिक एवं महान् चरित्र के उद्-घाटन में पूर्ण सफल रहा है। चरित्र सम्बन्धी आदर्श की प्रतिष्ठा करना उद्देश्य है जिसका समुचित निर्वाह सभी दृष्टियों से हुआ है।

४. चाची : विष्णु प्रभाकर

[विष्णु प्रभाकर मानवतावादी (साथ ही गाँधीवादी) कलाकार हैं। उन्होंने हिन्दी नाट्यकार के रूप में ख्याति अर्जित की है। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी उनकी महान देन है। उन्हें हम प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का ही कथाकार कह सकते हैं। उनका नवीन-तम कहानी-संग्रह 'धरती अब भी घूम रही है' उक्त मान्यता का ही समर्थन करता है। प्रभाकर जी ने प्रेमचन्द युग में ही लिखना आरम्भ किया था और अब तक लिखते आ रहे हैं, अतः आधुनिक जीवन-तथ्यों के प्रति उनकी दृष्टि पैनी है परन्तु वे ऐसी समस्या चुनते हैं जो उनके सिद्धान्त के अनुरूप हो। जीवन का यथार्थ उनकी कथा का प्राण है परन्तु आदर्शवाद ही आत्मा है जिसे छोड़कर उनकी कोई रचना नहीं चलती। यही उनकी विशेषता है और यही वह तथ्य है जो उन्हें आज की युगचेतना में प्राचीन युग का प्रतिनिधि सिद्ध करता है। इस प्रकार वे सन्धिकाल के साहित्य-कार हैं। आपके 'ढलती रात' और 'स्वप्नमयी' उपन्यास तथा 'आदि और अन्त' तथा 'संघर्ष के बाद' कहानी-संग्रह अधिक प्रसिद्ध हैं।]

विष्णु प्रभाकर की 'चाची' शीर्षक कहानी गाँधीवादी व्यक्तिवाद का सुन्दर उदाहरण है। एक व्यक्ति में अनेक दोषों के साथ कुछ ऐसे गुण होते ही हैं जिनकी ओर सामान्य रूप से हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारी दृष्टि दोषों की अधिकता पर टिक जाती है जिससे हम गुण-ग्रहण की दृष्टि खो बैठते हैं। यदि सूक्ष्मता से उन व्यक्तियों के चरित्र को परखा जाय, जो समाज में या तो उपेक्षित रहते हैं, या अनादर पाते हैं तो उनमें छिपे हुए उदार गुणों का भी परिचय मिल सकता है। इस प्रकार की परख के बिना हम किसी का सच्चा मूल्यांकन नहीं कर सकते। "बुरा जो खोजन मैं चला बुरा न दीखा कोय" वाली कबीर की उक्ति को चरितार्थ करने वाली यह कहानी व्यक्ति के उत्कर्ष को महत्त्व देने वाली महत्त्वपूर्ण रचना है।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का उद्देश्य व्यक्ति की भावनाओं का उचित मूल्यांकन करना और उसके आचरण की विशेषताओं की खोज करना है। इस उद्देश्य को यथार्थवादी अथवा आदर्शवादी साँचे में बिठालना उचित नहीं है। वस्तुतः यथार्थ के भीतर छिपे हुए आदर्श तत्त्व का अनुसन्धान ही कहानी का सार तत्त्व है और इसी में कहानी की सार्थकता है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए लेखक ने चाची के चरित्र को माध्य बनाया है। चाची के चरित्र के अनेक स्तर हैं। उनका गृह-सम्बन्धी आचरण विलक्षण है—"वह शासन करना जानती थी। जब तक पति जिया, उस पर शासन किया। विधवा हो गयी तो बहुओं पर हुकूमत चलायी।" इतना ही नहीं, चाची का शासन मुहल्ले भर में व्याप्त था, यहाँ तक कि "कस्बे के लोग भी जब उधर से गुजरते तो चाची को सिर झुका कर जाते।"

चाची में शासन की प्रवृत्ति उनका दोष थी या गुण, यह निर्णय करना कठिन है परन्तु "वह आपादमस्तक कुमतियों में डूबी हुई थी। झाड़-फूंक, टोने-टोटके, मान-मनौती, भेंट-पूजा, उसके आस-पास यही सब सत्य था······ मृत्यु-कर भी वह वसूल करती थी।" इतना सब होते हुए भी चाची का दबदबा था। एक अवगुण चाची में टाँग-तोड़ कर बैठ गया था और वह था झगड़ा करने का स्वभाव—"वह लड़ती थी और खम ठोंक कर पेशेवर लड़ाकू की तरह लड़ती थी।" यही कारण था कि चाची से सब डरते थे।

एक और विचित्रता चाची में थी। वे बेहद कंजूस थीं। लड़के पैसा न माँग लें, अतः अपना धन वे दूसरी विश्वासपात्र स्त्री को सौंपा करती थीं। इतनी तयारी के साथ वे रुपये जुड़ न पाते। लड़कों के माँगने पर ले जाकर उन्हें अवश्य देतीं और चीखती भी रहतीं।

पर चाची में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिन्हें उनका गुण ही मानना चाहिए। वे पोतों के जन्म पर बड़ी तैयारी के साथ मंगलाचार करतीं पर यह भी कहती रहतीं कि "ना जिठानी! देख लेना, जियेगा नहीं।" चाची सचमुच एक प्रकार से तटस्थ जीवन जीती थीं। लेखक अपने अनुभव से जानता है कि चाची से स्नेह करना भी सीखा जा सकता है—उनमें आत्मीयता का महान् गुण था। उनका एक कथन बड़े महत्त्व का है:

"एं रे, गैर समझ रहा है। मर्द होकर चूल्हा फूंके है। अरे तू तो हमारे घर का खा ले है। तू क्यों मरे है। तेरी माँ भक्तानी-सुक्लानी है। तू तो समाजी है।" इन शब्दों में कहीं छल-प्रपंच या दिखावा नहीं है। एक निष्कपट आत्मीयता है। वे कहती ही न थीं, "लड्डू, कचौरी और न जाने क्या-क्या···" दे भी जाती थीं।

चाची पति से लड़ा करती थीं, यह स्वभाव था, पर पति की उदारता का मूल्यांकन न करती हों, सो बात नहीं। वह पति का गुण-गान करतीं और रो पड़तीं।

अन्त में चाची का एक गुण उल्लेखनीय है। चाची कर्ज भी देती थीं—"वह सबसे खूब झगड़ती, तकाजे करती, लड़ती।" परन्तु क्या चाची निर्दय कृपण थीं? देखने में यही लगता, पर वे पति के समान ही उदार थीं। उनका पति हिसाब-किताब के नाम पर हँस देता था पर चाची एक-एक पैसे पर लड़ाई करती थीं। इतना सब होते हुए भी 'मनुआ कहार' के प्रति उनका आचरण हमें आश्चर्य में डाल देता है। मनुआ पर चाची के पाँच सौ से अधिक रुपये हो गये थे, एक-के-बाद-एक वह लेता गया था और फिर माँगने आया था। चाची ने खूब झगड़ा किया, खूब चिल्लायीं। इस सबके बाद कागज फाड़ कर यह कह कर फेंक दिया कि "वह देगा थोड़े ही। अब इसे रख कर क्यों जी जलाऊँ?"

चाची को पूर्व जन्म पर विश्वास था। ना-देहन्द आसामी भी उन्हें भीतर से विचलित नहीं कर सकता था। वे मान कर चलती थीं—"पिछले जन्म में लिया होगा, वही तो चुका रही हूँ।" चाची का चरित्र कितना विचित्र था कि उनकी तुलना में हम मनुष्यमात्र में छिपे गुणों की खोज कर सकते हैं। चाची विचित्र तत्त्वों के योग से बनी थीं—"शरीर जर्जर, सामाजिक चेतना जर्जर, कुरीतियों में पनपी, अन्धविश्वासों में पली, जिसे शत्रु मान लिया उसे मिटा दिया, जिससे मित्रता की उसे निभा दिया, खरे के साथ खरी, खोटे के साथ खोटी, सदा पराजित और मुसीबत-जदा का साथ देने वाली, सदा आगे रहने को, ऊपर रहने को, कुछ करने को, कुछ देने को आतुर।"

एक साधारण पात्र में इतने विरोधी तत्त्वों का एक साथ मिश्रण उपस्थित करके लेखक ने उच्च प्रतिभा का परिचय दिया है।

(३) **शैली**—शैली की दृष्टि से 'चाची' शीर्षक कहानी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यों तो यह आत्मप्रधान शैली है अथवा इसे 'मैं' शैली कह सकते हैं जिसमें लेखक किसी घटना अथवा चरित्र को लेकर अपने अनुभव प्रस्तुत करता है। इस शैली में लेखक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है—वह एक प्रकार से कहानी कहने का अभिनय करता हुआ अभिनेता का रूप ले लेता है, अतः इसे उत्तमपुरुषीय शैली भी कहते हैं। 'चाची' कहानी एक प्रकार से संस्मरणात्मक है। चाहे वैसा पात्र लेखक के जीवन में न भी आया हो, और वह पूर्णतः कल्पित हो परन्तु उस चरित्र के आन्तरिक तथ्यों का उद्घाटन इस प्रकार करता है जैसे वह व्यक्ति लेखक के समक्ष रहा आया है। ऐसी स्थिति में यह संस्मरण-शैली कही जा सकती है। उक्त दोनों के मिश्रण से शैली ने मौलिक एवं नवीन रूप ले लिया है। संस्मरणात्मक 'मैं' शैली का चरम उत्कर्ष महादेवी वर्मा के संस्मरणों एवं रेखाचित्रों में देखा जा सकता है परन्तु कहानी का उपयोग कथाकार की उच्च प्रतिभा का निदर्शन है।

(४) **कथानक**—'चाची' शीर्षक कहानी की शैली से ही विदित है कि उसका कथानक एक व्यक्ति के चरित्र को संस्मरणात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। निश्चय ही उसमें घटनाओं के संघर्ष का अभाव होगा और कोई लम्बी कथा भी न होगी। प्रस्तुत कहानी एक पात्र को लेकर चली है और उसके

स्वभाव की कतिपय रेखाएँ अंकित करना ही अभीष्ट रहा है ; फिर भी उसमें कथानक के पाँचों भागों का यथावत् निर्वाह देखा जा सकता है :

(क) **आरम्भ**—कहानी के आरम्भ में 'चाची' के स्वर्गवास का उल्लेख है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जो भी कहा जाने को है वह स्मृति के आधार पर आयेगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त पर लेखक का ध्यान रहा है कि साधारण व्यक्ति के भी मरण के बाद हम उसके गुणों का स्मरण करते हैं—यह स्वाभाविक है कि ऐसा पात्र जो अनेक गुण-दोषों से हमें जीवनकाल में प्रभावित कर चुका होता है, उसके न रहने पर एक कमी अनुभव होने लगती है। उसी कमी का अनुभव करके हम उस व्यक्ति का स्मरण करते और उसके आचरण का लेखा लेते हैं। इस तथ्य के अनुसार कहानी का आरम्भ अत्यन्त उत्तम है।

(ख) **आरोह**—कथा के आरोह भाग में चाची के दोषों का लेखा दिया गया है। लड़ाकू चाची का मानस चित्र बड़ी सफलता से रेखांकित किया हुआ मिलता है—चाची "जब बोलने लगती तो बड़े-बड़े वाक्पटु कान दबाकर रफूचक्कर हो जाते।" परिवार तथा मोहल्ले के निवासियों के प्रति चाची के झूठ व्यवहार को पढ़कर हम उसे केवल झगड़ालू औरत की संज्ञा दे चलते हैं।

(ग) **चरम स्थिति**—कहानी जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है तो चाची के गुण एक-एक कर सामने आते हैं—उसकी उदारता, उसका त्याग, धैर्य, सन्तोष, ममता आदि से परिपूर्ण चाची का अनोखा रूप उभर आता है। वह मनुआ कहार को हजार गाली देकर भी ५००) से ऊपर का कागज फाड़ कर फेंक देती है और सन्तोष कर लेती है कि पूर्व जन्म की वह ऋणी है।

(घ) **अवरोह**—कथा के उतार में लेखक फिर चाची के गुण-दोषों का स्मरण करता है—"आखिर इस आतंक और अविद्या के साथ इस अनगढ़ी, अटपटी सहानुभूति का क्या नाता है ? प्रेम का पौधा क्या जहालत के कीचड़ में ही पनपता रहता है।"

(ङ) **निगति**—अन्त में आरम्भ वाली चर्चा फिर दुहरा दी जाती है कि चाची यद्यपि इस संसार में नहीं हैं फिर भी—"आज भी हँसी से दोहरी होती

या क्रोध से तमतमाती उसकी काया आँखों में उभर आती है तो मनुष्य-चरित्र की अद्भुतता मुखर हो उठती है।

(५) **संवाद**—कथानक में घटनाओं का अभाव कभी-कभी उबाने वाली एकरसता से पाठक को उदासीन बना देता है परन्तु प्रस्तुत कहानी में यह दोष नहीं आने पाया है। इसका कारण मनोरंजक संवाद-योजना है। बीच-बीच में चाची के वचन कभी क्रोध, कभी ममत्व, कभी उत्साह, कभी वैराग्य की धारा बहाते हुए हमें आनन्द देते चलते हैं—कभी वे हास्य बिखेरती हुई कहती हैं—

"मैं तो समझी थी कि माँ-वाप ने जिठानी को बूढ़े से बाँध दिया है।"

कभी स्नेह का स्वर साधती हैं :

"न, जा, कुछ दिन रह आ। सेहत ठीक हो जायगी। कहीं ऐसे जाया करते हैं। पगला !"

कभी-कभी ठेठ करुणा बिखेरती हैं—

"फिर मौन, कुछ सुबकियाँ, फिर रुँधा स्वर—तभी सारा शहर उसे चाहे था। अरथी के साथ भीड़ की भीड़ थी, जो सुनता, दौड़ा आता, जैसे कोई अपना ही चल बसा हो···।"

कभी कंजूसी की पराकाष्ठा :

"अरे कर लिए तीरथ। ऐसे भाग कहाँ जिठानी।" कभी स्वर में वैराग्य भर कर कहती :

"पिछले जन्म में लिया होगा, वही तो चुका रही हूँ।"

वस्तुतः संवाद कहानी के प्राण हैं और लेखक उनमें पूर्णतया सफल रहा है। चाची की प्रत्येक बात उसके चरित्र की विशेषताएँ प्रकट करती हैं। कह सकते हैं कि संवादों में उसका व्यक्तित्व साकार तथा सजीव होकर प्रत्यक्ष हुआ दिखायी पड़ता है।

(६) **भाषा**—संवादों के माध्यम से जो भाषा सामने आयी है वह पात्र के अनुरूप होने से पूर्ण मनोरंजन उपस्थित करती है। यों तो आरम्भ से अन्त तक भाषा में सजीव गति है। सुन्दर प्रवाह है परन्तु चाची की वार्ताएँ आंचलिक भूमिका प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल हैं। संवाद के उद्धरणों से स्पष्ट

है कि चाची जैसी अशिक्षित सभी शुद्ध हिन्दी में किस प्रकार गाँव की बोली का पुट देकर बोलती है।

× × ×

उक्त दृष्टियों से कहानी अपने संस्मरणात्मक रूप में पूर्ण सफल है। व्यक्ति का सजीव रेखांकन पाठक को मुग्ध करता है। चरित्रगत स्वभाव की विविधता हमें सोचने को विवश करती है कि मनुष्य अपने-आप में कितना विचित्र प्राणी है जो एक शब्द में अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता।

५. तीन सौ चौबीस : उपेन्द्रनाथ अश्क

[जालन्धर में सन् १९१० में जन्म लेने वाले अश्क जी प्रेमचन्द और सुदर्शन के समान ही पहले उर्दू में लिखते थे और बाद में हिन्दी में आये। अश्क जी उपन्यास, कहानी, एकांकी, नाटक, संस्मरण, निबन्ध, कविता और आलोचना सभी क्षेत्रों में समान गति से लिखते हैं। 'सितारों के खेल' हिन्दी में उनका वह उपन्यास है जिससे उन्हें ख्याति मिली। उनके अनेक कहानी-संग्रहों के अतिरिक्त 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'सितारों के खेल', 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'पत्थर अल पत्थर' उपन्यास हैं। 'जय-पराजय', 'अलग-अलग रास्ते', 'स्वर्ग की झलक', 'छठा बेटा' आदि नाट्य-रचनाएँ हैं।

अश्क जी मध्यमवर्गीय समाज के अच्छे पारखी हैं। कहना चाहिए कि उनकी प्रतिभा का मुख्य क्षेत्र निम्न वर्ग से मध्य वर्ग तक है। सामाजिक जीवन में आने वाले व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों की पकड़ अश्क जी की विशेषता है। इनके पात्र सामान्य जन-जीवन के होते हैं, अतः बड़े ही सजीव होकर उनकी रचनाओं में उतरते हैं। मनोविश्लेषण की दृष्टि से अश्क जी की गद्य-कृतियाँ वस्तुतः उत्तम बन पड़ी हैं। उर्दू का सम्पर्क घनिष्ठ होने से भाषा-शैली मुहावरेदार तथा चुभती हुई होती है और संवादों में बड़ी ही चुस्ती देखी जाती है। अश्क जी अपने पात्रों की परिस्थितियों में अपने को डालकर संवेदनीय बनते और तब लिखते हैं, इसीलिए उनकी कृतियों में तीव्र कचोटन मिलती है।]

प्रस्तुत कहानी में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की प्रतिभा का उत्तम परिचय मिलता है। श्रमिक वर्ग की दुरवस्था का मनोरम एवं करुण चित्र खींचा गया है। विशाल जन-सागर में असंख्य बूंदों में से एक बूंद के समान कुली के जीवन की गिनती रखने में असमर्थ है परन्तु उसकी निष्ठा, उसका साहस, उसका कर्मठ स्वभाव और पौरुष वस्तुतः आकर्षक है। यह सब होते हुए भी उसका जीवन कौड़ियों पर स्वाहा हो जाता है; यह कितना निर्मम, कितना करुण और कितना दुर्भाग्यपूर्ण है; यही इस कहानी का केन्द्रीय बिन्दु है।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का उद्देश्य अमीर वर्ग से गरीब वर्ग की तुलना करते हुए धनिकों की निर्दयता पर व्यंग्य करना है। अमीर की सनक पर गरीब के प्राणों की आहुति हो जाती है, पर अमीर के लिए यह सामान्य बात है। कुली नं० तीन सौ बीस को प्रतिनिधि बनाकर अश्क जी ने इसी उद्देश्य को प्राञ्जल किया है। कुमारी वाल्टन का स्निग्ध प्रोत्साहन क्या अमीरी से मुक्त है ? क्या वह भी कुली के जीवन का मूल्य आँक सकी ? क्या अपने विनोद के लिए और प्राणलेवा उत्साह देकर कुली को जीवन में वह ममता दे सकी जिसका अधिकारी मानकर ही वह रास्ते भर लीला करती रही ? ये ही प्रश्न हैं जो हमें अन्तर्दाह से भर देते हैं और यही कहानी का प्रयोजन है।

(२) **कथानक**—कहानी में कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है, फिर भी कहानी में अपेक्षित विस्तार है और रुचि एवं जिज्ञासा; विस्मय एवं समवेदना को पर्याप्त अवसर रहता है। कुली 'तीन सौ चौबीस' के प्रति कुमारी वाल्टन का आकर्षण उसके लिए जानलेवा हो जाता है, इस तथ्य का रहस्योद्‌घाटन बड़े धीरज और कलात्मकता के साथ किया गया है और वही पाठक के उत्तरोत्तर संवेदन का आधार बनता चलता है। इसी के अनुसार कथानक के निम्न विभाग किये जा सकते हैं :

(क) **आरम्भ**—कहानी का श्रीगणेश एक मोटर-अड्डे से होता है जहाँ बड़ी भीड़ है। मिस्टर वाल्टन के साथ परिवार तो है ही, साथ में बहुत-सा सामान भी है और सामान में एक पियानो है जिसे दो-तीन कुली उठाएँ तभी उठ सकता है। हैदर उसे अकेला उठा लेता है तो कुमारी वाल्टन आश्चर्य-चकित रह जाती है। हैदर ही कुली नम्बर ३२४ है। उतना बोझा उठाने के साथ हैदर की सुन्दरता और बढ़ जाती है जिससे एक अंग्रेज कुमारी का आकृष्ट

होना स्वाभाविक है—वहाँ प्रेम कहीं भी फेंका जा सकता है । बस पाठक आगे पढ़ने को विवश हो जाता है । यही 'आरम्भ' की महती सफलता है ।

(ख) **आरोह**—आगे चलकर हैदर के थकने का दृश्य आता है, जब वह सड़क के किनारे चबूतरे पर पियानो रखकर थोड़ा दम मारना चाहता है । कुमारी वाल्टन का प्यार उमड़ पड़ता है । वह रिक्शा से कूदकर कहती है—"क्यों ठक गया, कहा था मट उठाओ । टुम ठक जायगा, लेकिन माना नहीं ।" इस वाक्य से हैदर तो प्रोत्साहित होता है पर पाठक इस अटपटी भाषा में एक ममता के दर्शन करता हुआ अनुमान कर लेता है कि अब हैदर इस परिवार में नौकरी पा जायगा और कुमारी वाल्टन का स्नेह-सुख भोगता हुआ कुलीगीरी के दुःख भूल जायगा । कुमारी वाल्टन बहुत-सा इनाम देने को कहकर उसे घर तक बिना ठहरे ले जाना चाहती है और हैदर उसी मिठास में बढ़ता चलता है यद्यपि उसका सारा शरीर टूटा जा रहा है ।

(ग) **चरम स्थिति**—दस रुपया इनाम का प्रलोभन और कुमारी वाल्टन का प्रोत्साहन हैदर के प्राणों में उत्तेजना भरते जाते हैं, वह स्वप्नों की-सी दुनिया में मूर्छित-सा चला जा रहा है । अब भी दो फर्लांग पर बँगला है । वह रुक जाता है; उसे पहुँचना असम्भव लगता है; वह आश्चर्य करता है कि इतनी दूर ही कैसे आ गया । कुमारी वाल्टन सेना में भरती करवाने का वचन देती है जिससे बिजली का-सा प्रभाव पड़ता है । हैदर फिर बोझा उठा कर चलता है । किसी प्रकार बँगले तक बोझ पहुँचाते ही वह पसीना-पसीना होकर गिर पड़ता है । कुमारी वाल्टन उसके माथे का पसीना अपने रेशमी रूमाल से पोंछती हुई उसका माथा चूम लेती है । पाठक को लगता है कि हैदर ने अपना प्राप्य पा लिया । अब इस गोरे परिवार में वह दामाद बनकर सम्मान पाने वाला है ।

(घ) **अवरोह**—अवरोह की अवस्था अत्यन्त अल्प है । कुमारी वाल्टन हैदर के हाथ पर बीस रुपये के नोट रखती है परन्तु नोट गिर जाते हैं ।

(ङ) **अन्त**—यहीं हैदर कुली का अन्त है । वह अब जीवित न रह सका जिससे पाठक द्वारा अनुमानित तथा कुमारी वाल्टन द्वारा कहे हुए सुखों का भोग वह नहीं कर सका ।

(३) **नाम की सार्थकता**—'तीन सौ चौवीस' शीर्षक जिज्ञासावर्द्धक होने के साथ ही साथ कहानी के उद्देश्य को व्यक्त करने में पूर्ण सफल है। आरम्भ में जब सब कुली अपना नम्बर बोलते या दिखाते या मोटर के भीतर फेंक कर अपनी पहल करना चाहते हैं तो लगता है कि इन मनुष्य रूपधारी पुतलों का नम्बर के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं। वे प्राणी न होकर नम्बर हैं। अन्त में जब हैदर का नम्बर पीतल के टुकड़ पर ३२४ लिखा हुआ मिलता है और कुमारी वाल्टन 'पुअर हैडर' कहकर लम्बी साँस छोड़ती है तब भी ऐसा ही लगता है कि हैदर का भी मूल्य नम्बर ही था क्योंकि अंग्रेज कुमारी से क्या अन्य भी आशा की जा सकती है ? विशेषत: तब जबकि हैदर के प्राण-पखेरू उड़ चुके हैं।

(४) **चरित्र-चित्रण**—एक घटना और एक ही अनुभूति देने के निमित्त से लिखी हुई यह कहानी चरित्र-चित्रण में विस्तार नहीं दे सकती; फिर भी तीन चरित्रों को अश्क जी ने धूमिल रेखाओं से अंकित किया है—मिस्टर वाल्टन, कुमारी वाल्टन और हैदर। तीनों के चित्रण में सूक्ष्मता है, अत: पाठक का ध्यान तीनों आकृष्ट करते हैं।

(क) मिस्टर वाल्टन स्वार्थी जीव हैं। जब हैदर थकता हुआ पियानो लेकर चलता है तब भी उनका रिक्शा बढ़ जाता है। एक अंग्रेज भारतीयों को जिस दृष्टि से देखता था, उसका एक चित्र सामने आ जाता है। शिमले में उनकी दो-तीन कोठियाँ थीं जिनसे किराया आता था। उनसे अलग उनका आवास था जो अत्यन्त सुन्दर उद्यान से युक्त था। कुल मिलाकर वे बड़े सुरुचिपूर्ण अमीर थे और पेन्शन का जीवन बिता रहे थे। हैदर की मृत्यु के समय कुमारी वाल्टन तो वहाँ रहती हैं, पर परिवार का कोई अन्य सदस्य हैदर के परिश्रम और उस करुण मृत्यु की ओर दृष्टिपात नहीं करता, इससे भी मिस्टर वाल्टन के शासक जातीय चरित्र का पता मिलता है।

(ख) कुमारी वाल्टन कहानी में आकर्षण का केन्द्र है। वह जब बहुत-से कुलियों के नम्बरों की पट्टियाँ उन्हीं पर फेंकती है तो उसके भीतर छिपी हुई शासक-जातीय गर्व भावना का पता चलता है। हैदर के सौम्य, सुन्दर एवं बलिष्ठ व्यक्तित्व के प्रति वह आकृष्ट हो जाती है जिससे उसकी गुणग्राहकता के साथ स्नेहशीलता का भी पता मिलता है। वह अल्हड़ युवती है, अत: उस पर

परिवार की अमीरी का इतना प्रभाव नहीं पड़ा है कि पूर्णतः निर्मम हो सके। अंग्रेज जाति के कारण वह सरलता से हैदर को प्यार भी दे सकती थी, जो उसके लिए राह चलते का सौदा जैसा है। कुमारी वाल्टन के चरित्र में सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि वह गरीब के जीवन का उचित मूल्य नहीं आँक पाती। हैदर यदि पियानो का बोझा एक साँस में बँगले तक मीलों चल कर पहुँचा दे तो उसे जीत का आनन्द मिलेगा। हैदर का हार मानना उसकी हार है। इसे वह जुए या सट्टे का दाँव समझ कर हैदर को प्रोत्साहन देती है, इनाम देने को कहती है और फौज में नौकरी दिलाने का प्रलोभन देती है। इस सबके मूल में उसकी झूठी आत्मप्रशंसा और उसके मिथ्याभिमान की ही सूचना मिलती है। उसकी यह चारित्रिक त्रुटि अंग्रेज जाति में जन्म लेने के कारण है। वह भारत के दीन-हीन मजदूर के श्रम और उसकी भावना की उचित नाप-जोख कर पाने में असमर्थ है। इतना होते हुए भी कुमारी वाल्टन एक सुशील लड़की है। अन्त में वह जब 'पुअर हैडर' कहकर शोक व्यक्त करती है तो आश्चर्य होता है कि क्या वही है जिसने कुछ मिनट पहले हैदर का पसीना अपने रूमाल से पोंछा था और मस्तक चूमा था। निश्चय ही एक अंग्रेज कुमारी स्नेह और ममता को व्यवसाय मानती है जो भारत के लिए विचित्र है। भारतीय पाठक को कुछ ऐसा लगता है कि कुमारी वाल्टन एक प्रकार से विधवा-सी हो गयी है पर क्या वह स्वयं ऐसा अनुभव करती है ? यहाँ वह एक मौजी अंग्रेज बाला का शोखी भरा चरित्र उद्घाटित करती है। वह यह भी नहीं समझना चाहती या नहीं समझती कि उसके प्रलोभन और प्रोत्साहन के कारण ही भोले हैदर को जान से हाथ धोना पड़ा है; वही तो मौत बनकर हैदर को खा गयी है, जिसे उस जैसी बाला समझने में असमर्थ है—'पुअर हैडर' जैसे अपनी ही गलती से मर गया हो। "उसकी आँखें सजल हो गयीं" से उसके प्यार की क्षणिक-सी सूचना अवश्य मिलती है।

(ग) हैदर कहानी का प्रधान चरित्र-नायक है। वह अत्यन्त भोला युवक है। जब सब कुली अपनी-अपनी ताक में लगे हैं, नम्बर फेंक रहे हैं; तब हैदर आगे नहीं आता। वह प्रभावशाली युवक है, अतः अन्य कुलियों के समान कुमारी वाल्टन उस पर क्रोध नहीं कर पाता।

"कुछ बेपरवाह-सा, कुछ उखडा-उखड़ा-सा, कुछ व्यथित-सा युवती की सरोष आँखें उसकी करुण आँखों से चार हुईं। उसने नम्बर नहीं फेंका और चुप अपनी जगह पर बैठ गयी।"

इतने से ही हैदर का चरित्र और उसकी विशेषताएँ सामने आ जाती हैं। वह वस्तुतः बेपरवाह है, तभी तो जान की बाजी लगाकर पियानो उठाता और उसे ढोकर बँगले तक पहुंचाते ही सदा के लिए सो जाता है। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता वही है जो प्रत्येक युवक का स्वभाव होता है—"अब इन्कार कर उस सुन्दर लड़की की नजरों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था।" यही आकर्षण उसके प्राण लेकर शान्त हुआ। वह यदि विश्राम करता हुआ कुछ देर से बँगले तक पहुँचता तो उसकी जान बच सक़ती थी; परन्तु "किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना" उसे उचित न लगा।

इसी तथ्य की ओर संकेत भी किया गया है—"यदि सुस्ता लेता तो शायद पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील चलना सर्वथा असम्भव है।" और अन्त तो दुःखद है ही पर इसके लिए अकेली कुमारी वाल्टन को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। हैदर की गरीबी और जवानी भी जिम्मेदार है तथा प्रलोभनों में आकर जान दे देना भी उसकी ना-समझी ही सूचित करता है।

(५) **दुःखान्त कहानी**—कहानी दुःखान्त है। अंग्रेजी में इसे 'ट्रेजडी' कहा जा सकता है जिसके लिए नायक में एक कमी होनी चाहिए जिसे 'हैमर्शिया' कहा जाता है। वह तत्त्व हैदर के चरित्र में विद्यमान है—उसकी यही कमी है कि वह कुमारी वाल्टन के प्रोत्साहन और प्रलोभन के जाल में फँस जाता है कि उसे जान की चिन्ता नहीं रह जाती। कहानी के दुःखान्त होने में हैदर की यही कमी कारण कही जा सकती है।

(६) **भाषा-शैली**—शैली तो प्रचलित इतिहास-शैली है परन्तु वातावरण, परिस्थितियों और अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण से वह मोहक हो उठी है। हैदर और कुमारी वाल्टन के मनोविश्लेषण की जो रीति अपनायी गयी है उससे लेखक के मनोवैज्ञानिक विचारक होने के साथ संवेदनशील होने का परिचय मिलता है। सम्पूर्ण कहानी मनोविज्ञान के ताने-बाने में बुनी हुई है जो शैली का

बहुत बड़ा गुण है। इस सबके अतिरिक्त भावनाओं के उतार-चढ़ाव के अनेक सफल चित्र देने के कारण भी अश्क जी की शैली आकर्षक बन गयी है।

भाषा सर्वथा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है। लेखक अपनी ओर से जितना कुछ कहता है उसमें भाषा शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी है परन्तु वही भाषा कुमारी वाल्टन से बदल कर कहलायी गयी है—"हैडर, हम टुम्हारे लिए सब कुछ करेगा, टुम्हें सेना में भर्ती करा डेगा, टुम्हें नौकर रख लेगा, टुम्हें प्यार करेगा। बस, दो फलाँग, बक-अप, बक-अप।"

× × ×

उक्त सभी दृष्टियों से कहानी पूर्ण सफल है। कहानी के अन्त में "पुअर हैडर" कहती हुई उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ी और उसकी आँखें सजल हो गयीं। ऐसा वाक्य है जो पाठक की आँखों को भी सजल कर देता है।

६. गूँगे : रांगेय राघव

[रांगेय राघव की अनेक विशेषताओं में से सर्वोपरि विशेषता यह मानी जाती है कि वे दक्षिणात्य होकर भी हिन्दी के धुरन्धर उन्नायक थे। उनका जन्म सन् १९२४ में हुआ था और सन् १९६२ में ३८ वर्ष की आयु में ही देहान्त हुआ। इतने अल्पकाल में उन्होंने जितनी साहित्य-सेवा की और जितनी रचनाओं से हिन्दी को समृद्ध बनाया, कोई तरुण साहित्यकार कदाचित् उतना कर सका हो। उनके प्रायः १५० ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र आदि विविध विषयों का समावेश है जिससे उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० करके "गोरखनाथ और उनका युग" विषय पर पी० एच० डी० उपाधि प्राप्त की। उक्त सब कार्य ३८ वर्ष के आयु में पूरा कर जाना सचमुच आश्चर्यजनक है।

रांगेय राघव मार्क्सवादी विचारधारा के अनुयायी थे, अतः मूलतः वे प्रगतिवादी लेखक थे परन्तु उन्होंने ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण को सदैव अपनी प्रतिभा में स्थान दिया। वेद, पुराण, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, मध्य-काल की संस्कृति के साथ आधुनिक काल को मिलाकर

उन्होंने अपने चिन्तन की भूमिका तैयार की थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में समाजवादी जीवन के प्रति आग्रह होते हुए भी दुराग्रह नहीं है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उनके हृदय में सदैव आदर बना रहा परन्तु परम्परा को वे ज्यों का त्यों लेने के पक्षपाती न थे। उन्होंने विदेशी साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया था और शेक्सपियर के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की थी।

उनकी रचनाएं कुछ इस प्रकार हैं :

(१) **कहानी-संग्रह**—अंगारे न बुझे, साम्राज्य का वैभव, देवदासी, जीवन के दाने, एक छोड़ एक, इन्सान पैदा हुआ, मेरी प्रिय कहानियाँ आदि।

(२) **उपन्यास**—घरौंदे, मुर्दों का टीला, सीधा-सादा रास्ता, विषादमठ, कब तक पुकारूँ, राई और पर्वत, छोटी-सी बात, अँधेरा रास्ता, उबाल, आखिरी आवाज, रार न रुकी, पथ का पाप, बौने और घायल फूल आदि।

(३) **काव्य**—पिघलते पत्थर, मेधावी, अजय खंडहर आदि।]

'गूंगे' शीर्षक कहानी प्रतीकात्मक कहानी का सुन्दर उदाहरण है। इसमें माता-पिता से रहित एक बहरे-गूंगे बालक का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। वह अपने सम्बन्धियों से प्रताड़ित होकर जहाँ-तहाँ नौकरी करता रहता है और सब कहीं से भागने की उसकी आदत बन गयी है। उसमें स्वाभिमान आदि अनेक गुण भी हैं। यद्यपि वह स्वभाव से समाज की बुराइयों का विद्रोही है पर गूंगा होने से कुछ कह नहीं पाता।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का उद्देश्य यह व्यक्त करना है कि समाज और शासन में ऊपर से नीचे तक बुराइयाँ हैं जिनके प्रति प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक में विद्रोह रहता है; परन्तु सभी एक प्रवाह में बहते चलते हैं। गूंगे के समान ही वे अपनी विद्रोही आवाज नहीं उठा पाते। गूंगा डरता नहीं फिर भी बोलने की शक्ति न रहने से कुछ कहने में असमर्थ रहता है परन्तु समाज में लोग बोल

सकने पर भी आवाज नहीं उठाते। वे बोलते हुए गूंगे हैं। सब डरते हैं, सब शंकित हैं कि उनकी बात से कहीं अफसर या अन्य कोई बड़ा व्यक्ति उन्हें हानि न पहुँचा दे। इस तथ्य पर लेखक इस प्रकार प्रकाश डालता है :

"और चमेली सोचती है—आज दिन ऐसा कौन है जो गूंगा नहीं है ? किसका हृदय समाज, राष्ट्र, धर्म और व्यक्ति के प्रति विद्वेष से, घृणा से नहीं छटपटाता; किन्तु फिर भी कृत्रिम सुख की छलना अपने जालों में उसे नहीं फाँस देती—क्योंकि वह स्नेह चाहता है, समानता चाहता है।"

(२) **कथानक**—प्रतीकात्मक होने से कहानी का कथानक संक्षिप्त है और एक जन्म से बहरे-गूंगे का चित्र देता है। थोड़े दिन वह गूंगा चमेली के साथ रहता है और अपनी विशेषताओं से उसमें ममता तथा वात्सल्य जगाता है। चमेली उससे रुष्ट होकर झुँझलाती भी है और दया भी करती है। इसी द्वन्द्व में 'गूंगा' कहानी द्वारा पाठक के सामने आकर समाज के उन गूंगों की ओर संकेत करता है जो बोलना चाहकर भी, बोलने की शक्ति रहते भी, अन्याय के विरुद्ध आवाज नहीं उठा पाते।

(क) **आरम्भ**—कहानी का आरम्भ अत्यन्त आकर्षक है। शकुन्तला छोटी-सी बच्ची है जो स्त्रियों के कहने से गूंगे को पुकारती है पर गूंगा बहरा होने से कुछ नहीं समझता। तब चमेली उसे संकेत से बुलाती है। सभी स्त्रियाँ गूंगे पर दया दिखाती हैं जबकि चमेली उसे अपने घर में नौकर की तरह रख लेती है।

(ख) **आरोह**—गूंगा चमेली के यहाँ से भी कभी-कभी भाग जाता था। चमेली स्वभावतः झुँझलाती है। चमेली की डाँट-फटकार का वह कोई उत्तर नहीं देता परन्तु जब बसन्ता उसे चपत मार देता है तो गूंगा भी मारने को चपत उठाता और रुक जाता है। चमेली सोचती है कि यदि उसका पुत्र गूंगा होता तो ? और उसे गूंगे पर दया आ जाती है। गूंगा चमेली की ममता को भली प्रकार समझता है, इसीलिए चमेली की उपेक्षा नहीं कर पाता।

(ग) **चरम स्थिति**—कहानी की चरम दशा में गूंगे की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। उस पर चुरा कर खाने का अपराध है। चमेली उसे निकल जाने को द्वार की ओर इशारा करती है। गूंगे को झटका देकर निकाल देती

है। थोड़ी देर बाद गूंगा खून से भीगा हुआ लौट आता है। लड़के उसे पीटते हैं और वह खून-खच्चर होकर आता है।

(घ) **अवरोह**—लेखक कथा के उतार पर सूचित करता है कि इसी गूंगे के समान हजारों-लाखों लोग हैं जो अन्याय सहते जाते हैं पर विरोध में एक शब्द नहीं बोल पाते।

(ङ) **अन्त**—अन्त में चमेली द्वारा कहलाया जाता है कि सामाजिक अन्याय सहन करके चुप रहने वाले सभी गूंगे हैं।

(३) **चरित्र-चित्रण**—प्रस्तुत कहानी इतनी छोटी है कि उसमें विस्तार चरित्र-चित्रण का अवसर नहीं है फिर भी चमेली और गूंगे के चरित्र अत्यन्त सुन्दरता से चित्रित हुए हैं।

(क) **गूंगा**—गूंगा जन्म से बहरा और मूक है। वह न सुन पाता है, न बोल पाता है। फिर भी वह स्वाभिमानी है। वह भीख माँगना नहीं पसन्द करता। उसके माँ-बाप नहीं, अतः वह पहले बुआ के घर रहता है जहाँ उसे मार पड़ती है। यही कारण है कि उसमें भागने की आदत घर कर गयी है। वह चमेली की दया और ममता पाकर भी भागता रहता है। उसके स्वाभिमान का पता तब लगता है जब चमेली का पुत्र बसन्ता उसे चपत जड़ देता है और वह बदले में मारने को हाथ उठाता है और चमेली का क्रोध में हाथ पकड़ लेता है। परन्तु वह भी स्नेह पहचानता है, अतः बार-बार उसी घर में लौट कर आ जाया करता है। अन्त में जब चमेली उसे निकाल देती है तब भी लड़कों द्वारा सड़क पर पीटा जाकर वहीं लौट आता है। गूंगा कभी परिश्रम से जी नहीं चुराता, फिर उसका आचरण सामान्य से भिन्न रहता है, जो उसके लिए स्वाभाविक है।

(ख) **चमेली**—कहानी में चमेली का चरित्र ममता का अवतार है। वह गूंगे के सभी अपराध क्षमा करती रहती है। पुत्र के समान उसे समझती है। जब गूंगा क्रोधित होकर उसका हाथ पकड़ता है और उससे पूर्व बसन्ता पर हाथ उठा चुका होता है, तब भी चमेली यही सोचती है कि उसी का पुत्र गूंगा होता तो क्या होता।

× × ×

उक्त दृष्टियों के अतिरिक्त 'गूंगा' कहानी की अवतारणा बड़ी मनोहर है। भाषा की दृष्टि से पाठक को आकृष्ट करती है। संवाद बड़े ही स्वाभा-

विक हैं जो हृदय पर प्रभाव डालते। वस्तुतः चमेली की और गूंगे की भावनाओं के चित्रण में कहानी अत्यन्त सफल है। प्रसिद्ध इतिहास-शैली में होकर भी कहानी का आरम्भ अत्यन्त आकर्षक है। एक प्रकार के वार्तालाप से आरम्भ होने के कारण पाठक की जिज्ञासा तीव्र हो जाती है जिससे लेखक कहानी के माध्यम से अपना उद्देश्य प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

७. सुदामा के चावल : हरिशंकर परसाई

[हरिशंकर परसाई हास्य-व्यंग के प्रख्यात एवं प्रतिष्ठित कलाकार हैं जो हास्य को हास्य के लिए ग्राह्य नहीं मानते; वे हास्य-शैली द्वारा सामाजिक कुरूपता का निदान खोजते हैं; आमूल व्याप्त अनाचार का रहस्योद्घाटन करते हैं और अपने पाठक के हृदय में छिपी हुई वितृष्णा को उभार कर उसे व्यंग-कणों में बिखेर देते हैं। हास्य के इस रूप से परिचित या अभ्यस्त न होने वाले आलोचक जब उन्हें केवल हास्यकार कहते हैं तो निश्चय ही उनका उचित मूल्यांकन करने से कतरा जाते हैं। परसाई जी का हिन्दी-साहित्य में एक अनूठा स्थान है। उनके ही वर्ग के अन्य हास्य-प्रधान साहित्यकार हैं—हरिशंकर शर्मा, अन्नपूर्णानन्द, बेढब बनारसी आदि। परन्तु एक तो ऐसों की संख्या ही कम है, दूसरे परसाई जी के समान दूसरे लोग कुरीति एवं भ्रष्टाचार की चुभन उतनी गहराई से अनुभव नहीं करा पाते, अतएव हास्य में उत्कृष्ट होने पर भी वे उतना कुछ दे नहीं पाते जितना कि परसाई जी से हमें सुलभ हो जाता है। अतः परसाई जी आज अपने स्थान पर अद्वितीय कहे जा सकते हैं।

परसाई जी की कला न शब्दों को मरोड़वादी अर्थ देकर तथाकथित शिष्ट हास्य में चला करती है; न किसी अपरिवर्तनीय शैली-चमत्कार में उलझाकर हमारी बत्तीसी बाहर कर लेती है और न ही किसी की फिसलन का निर्दय उपहास करके स्वयं उपहसनीय बनती है। उनकी कला चलते-फिरते, जीते-जागते, रोते-गाते पात्रों के भीतर छिपी जीवनी-विरोधी (मरणधर्मा) अभद्रता को चिमटी से पकड़ कर तिलमिलाती हुई प्रदर्शित कर देती है कि हम एक सुख-संवेदन अनुभव करने लगते

हैं—मानों हमारे फोड़े की विषाक्त कील निकाल कर किसी सिद्धहस्त चिकित्सक ने हमें दिखा दिया हो और पीड़ामुक्ति देकर शान्त हँसी अधरों पर खिला दी हो ।

परसाई जी की शैली के अनोखे चमत्कार हैं । कभी वह रामायण से निकल आती है—जैसे, 'लंका-विजय के बाद'; कभी वह पुरातन कथा-साहित्य से दौड़ आती है—'जैसे बैताल की तीन कथाएँ' और कभी कहीं से, कभी कहीं से आकर हमें चकाचौंध में डाल देती है। हम उनकी शैली में कहीं जड़ एकरूपता अथवा उबाने वाली एकरसता नहीं पाते । उनके आकार का कब कौन-सा रत्न किस चमक से हमें कितना वशीभूत कर लेगा, इसकी मिति नहीं । इसलिए परसाई जी की शैली पर कोई शोध अभी नहीं लिखा जा सकता । वे निरन्तर विकासशील एवं प्रगतिशील कलाकार हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का प्रबुद्ध पाठक उनका सदा निर्व्याज स्वागत करता है ।

आज का समाज विविध प्रकार की आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि घुटन के धुएँ से परिव्याप्त है । नया कहानीकार उस घुटन को जब रूपायित करता है तो हमें उसी घुटन से भर कर इस प्रकार बोझिल बना देता है कि हम रिक्तता का विष अनुभव कर 'आक्सीजन' पाने की चिन्ता करने लगते हैं । परसाई जी की कोई भी रचना हमें पर्याप्त 'आक्सीजन' देकर हमें पुनर्जीवित कर लेती है, फिर भी हमें किसी थोथे आदर्शवाद के धोखे में नहीं डालती, प्रत्युत अलग खड़ा कर धुएँ को देखने और उससे बचे रहने की स्फूर्ति देती है ।]

प्रस्तुत कहानी पौराणिक प्रतीकों द्वारा आधुनिक भ्रष्टाचार का चित्रण करने वाली व्यंग्यात्मक कहानी है । कृष्ण, सुदामा आदि पात्र, जो हमारी भावना के अंग बन चुके हैं, आज का बाना धारण करके आज की समस्याओं का रूपायन करते और हास्य की फुहार छोड़ते देखे जाते हैं । पौराणिक कथा को परसाई जी ने ऐसा मोड़ दिया है कि उनकी प्रतिभा हमें चकित कर देती है । कृष्ण और सुदामा के सन्दर्भ में कल्पना द्वारा आज की जितनी बुराइयाँ देखी जा सकीं, लेखक ने देखी ही नहीं, उन्हें क्रान्तिकारी रूप में हृदयंगम कराया है ।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का मुख्य उद्देश्य व्यंग्य द्वारा आजकल के राजनीतिक क्षेत्र में फैले हुए दम्भाचार का भण्डा फोड़ करना है। कृष्ण और सुदामा को प्रतीक बनाकर कहानी में सम्पूर्ण भ्रष्टाचार की कथा कही गयी है जो आज का सत्य है—घूसखोरी, आतंकवाद, भ्रष्टाचार छिपाने का प्रपंच, ले-देकर बात दबा देना, समितियों की स्थापना कर फैसले से जी चुराना आदि छोटे-बड़े तथ्यों का रहस्य स्पष्ट किया गया है।

(२) **कथानक**—कहानी का कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। कृष्ण और सुदामा को आजकल के राजनेताओं का रंग देकर प्रस्तुत किया गया है जिससे लेख को वर्ण्य विषय के निरूपण में सहायता मिली है। एतदर्थ सम्पूर्ण पौराणिक कथा को बदल लिया गया है। सुदामा कृष्ण के भक्त सुदामा नहीं रह जाते, प्रत्युत शासकों से सौदेबाजी करके लाभ लेने वाले आसामी बन जाते हैं। कृष्ण भी राजनीति के मायाजाल की भ्रष्टाचाररूपी कड़ियों में सिर से पैर तक जकड़े हुए शासक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

सुदामा किसी प्रकार चावलों की पोटली बगल में दबाये हुए द्वारका तक पहुँचते हैं। राजभवन के द्वार पर पहरेदार उन्हें एक कार्यालय में भेजता है जहाँ से आदेश लेकर ही महाराज कृष्ण के दर्शन हो सकते हैं और उन्हें सावधान कर देता है कि राजकर्मचारियों को 'भाई' न कहकर 'देवता' पदवी से सम्बोधित किया जाय। कार्यालय में कर्मचारी दरिद्र और फटेहाल देखकर सुदामा को चिढ़ाते हैं और महाराज से मिलने को अयोग्य बताते हैं। वहाँ अनेक सैनिक भी आ जाते हैं और सरदार भी। वे सब 'खुरचन' माँगते हैं। खुरचन का अर्थ 'घूस' होता है—बिना घूस दिये महाराज से मिलने नहीं दिया जा सकता। सुदामा के पास केवल चावल की पोटली है। उसे ही एक सरदार बगल से छीन कर सोना समझ कर खोलता है और चावल देख कर निराश होता है परन्तु मन्त्रों से सिद्ध किये हुए चावल मान कर अपनी-अपनी कामना पूरी करने के लिए सब एक-एक मुट्ठी चबा डालते हैं, यहाँ तक कि बचे हुए थोड़े चावल जब महाराज के लिए सुदामा रख लेना चाहता है तो एक बड़ा सरदार आकर छीन कर उदरस्थ कर लेता है। यह घूसखोरी हो जाने पर सरदार एक सिपाही के साथ सुदामा को महाराज के पास भिजवा देता है, परन्तु यह भयानक शर्त रख देता है कि यदि महाराज को यहाँ का हाल

(घूसखोरी का समाचार) बताया तो ब्राह्मणी विधवा हो जायगी, अर्थात् सुदामा को मार डाला जायगा ।

महाराज कृष्ण जब सुदामा की बगल के कपड़े में एक घना चावल नहीं पाते तो कारण पूछते हैं । पहले तो सुदामा नहीं बताता परन्तु अभयदान पाकर पहले 'खुरचन' का अर्थ पूछता है—कृष्ण उसका अर्थ नहीं समझते अतः उनके अज्ञान पर व्यंग्य करता है और फिर सारी कथा सुनाता है । उसे सुनकर कृष्ण भ्रष्टाचार का पता लगाने के लिए समिति की स्थापना का आश्वासन देते हैं और सुदामा से कहते हैं कि कर्मचारियों के भ्रष्टाचार की बात कहीं न कहे । इस पर सुदामा अकड़ जाता है तो वे कुछ देकर उसका मुँह बन्द करना चाहते हैं । सौदेबाजी में सुदामा एक लाख स्वर्ण मुद्रा, एक भवन और एक ग्राम लेकर किसी पर रहस्य प्रकट न करने का वचन लेता है । कृष्ण उसे सुरक्षित घर भेज देते हैं ।

(३) **शैली**—कहानी डायरी शली में लिखी गयी है । सुदामा की कथा, जो पुराणों में प्रसिद्ध है, उसके विपरीत लेखक कल्पित कथा को सुदामा की डायरी के रूप में प्रस्तुत करता है । इसकी सूचना लेखक ने आरम्भ में ही दे दी है । व्यंग्य-विनोद द्वारा समाज में फैले हुए प्रशासन सम्बन्धी भ्रष्टाचार को खोलकर रखने में यह शैली अत्यन्त सफल हुई है ।

(४) **भ्रष्टाचार के विविध रूप**—कहानी का उद्देश्य ही प्रशासन में व्याप्त निठल्लेपन, घूसखोरी, निर्णय-विलम्ब आदि की सूचना देना है । जिन बुराइयों को परसाई जी ने 'सुदामा के चावल' कहानी में व्यंग्य द्वारा प्रस्तुत किया है उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

(क) "राजपद पाकर कौन अपने भाई-भतीजों और मित्रों का भला नहीं करता ?" इस प्रकार प्रशासन में पक्षपात की सूचना दी गयी है ।

(ख) धनिक वर्ग का निकम्मापन इस वाक्य से स्पष्ट है—"मुझे एक पहर तक दातौन करने की आदत है क्योंकि किसी तरह समय तो काटना है ।"

(ग) नेताओं के रंगीन स्वभाव की इस प्रकार सूचना दी गयी है—"जिस राजनेता के पास सुन्दरियों का गुच्छा होता है उससे मिलने वालों का टोटा नहीं पड़ता ।"

(घ) कर्मचारियों के स्वभाव को एक वाक्य में देखा जा सकता है—"राजपुरुष उधारी या चोरी के माल से बहुत प्रसन्न होते हैं।"

(ङ) श्रमदान आदि निम्न कार्य शासक लोग इसलिए करते हैं कि उसका प्रचार हो—"आस-पास चित्रकार लोग चावल खाते हुए महाराज का चित्र खींचने के लिए तैयार खड़े थे। चित्र खींच कर नीचे लिखा जाता, 'दीनबन्धु' एक दीन के चावल खाते हुए।"

(च) 'खुरचन' का सन्दर्भ पूरी कहानी के व्यंग्यों में प्रधान है—"बतलाओ 'खुरचन' किसे कहते हैं और अच्छे शासन में इसका क्या महत्त्व है ?"

(छ) शासन की ओर से जो पुरस्कार दिये जाते हैं, उससे विद्वत्ता और कला के क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार फैल रहा है; लेखक ने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है—"बड़े-बड़े कलावन्त, पण्डित, कवि और गायक राजधानी में आकर बस गये थे क्योंकि यहाँ राज-पुरस्कार खूब बँटते थे।"

(ज) राजकीय कर्मचारी अथवा अधिकारी लाभ की स्थिति (Privileged Position) में होता है अतः अपने को जनता की तुलना में देवता समझता है—"आगे किसी राजकर्मचारी को 'भाई' मत कहना। वह मनुष्य होने में अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। उसे 'देवता' कहना चाहिए।"

(झ) राजकर्मचारियों का निकम्मापन उनके गप करने और चाय पीने आदि में समय बिताने को लेकर समझा जा सकता है। उस सन्दर्भ के अनुसार परसाई जी ने लिखा है—"वे अपने स्थान से उठते और पास के जलपानगृह में जाकर बैठ जाते। मैं समझा कि इन सबको यही करने के लिए ही राज्य से वेतन मिलता है।"

(ञ) जनता को आतंकित करने का दृश्य एक वाक्य से जाना जा सकता है—"विप्रदेव, तुम गलत जगह आ गये; यह पागलखाना नहीं है।"

(ट) रिश्वत की दशा देखिए—"यह भी एक मन्दिर है।......महाराज से क्या बिना भेंट के मिलोगे ? हमारा भी तो कुछ हिस्सा होगा।"

(ठ) शासन की टालमटूल तदर्थ समितियों की स्थापना में देखी जा सकती है। वहाँ भ्रष्टाचार को सब प्रकार से छिपाया जाता है—"मुझे वास्तव में यह नहीं मालूम था। मैं आज ही जाँच-समिति नियुक्त करता हूँ। पर बाहर यह बात तुम किसी को मत बताना। राज्य की बड़ी बदनामी होगी।"

(ड) राजपद पर पहुँचे हुए व्यक्ति को किस प्रकार आत्मीय मानने वालों और लाभ लूटने वालों की संख्या बढ़ती है। इसी से जाना जा सकता है कि कृष्ण के लाखों सम्बन्धी बन गये हैं और 'सुदामा' नामधारी सात लोग असली सुदामा से पहले ही आकर ठग चुके थे। कुछ वाक्यों से पदाधिकारी की निर्ममता का पता मिलता है—"मैं यही नहीं समझ पाता कि कौन मेरा है और कौन पराया।.....आगये तो कोई बात नहीं, पर मित्रता इत्यादि की बात मत करो; क्योंकि मैं क्या जानूं कि तुम कौन हो। मैं तुमसे सौदा करता हूँ।"

(ढ) राज्य में बड़े-बड़े रहस्य होते हैं उन्हें शासक प्रकट नहीं होने देना चाहता अतः वह भी घूस देकर मुंह बन्द करता है। समितियों में ऐसे लोगों को स्थान मिलता है जिनसे रहस्य खुलने का भय रहता है—कृष्ण भी सुदामा को घूस देते हैं—"तो एक लाख स्वर्णमुद्रा, एक भवन और एक ग्राम ले लो।"

(ण) उक्त घूस लेकर चुप होने वाले लोग भी इसे लेन-देन की भूमिका में ही लेते हैं, अहसान नहीं मानते। सुदामा कहता है—"मैंने कृष्ण से दान नहीं लिया, सौदा किया था, कुछ काल के लिए ईमान गिरवी रखा था।"

× × ×

ईमान बेच कर खाजाने की कूटनीति का पर्दा फ़ास कर के हरिशंकर परसाई ने प्रस्तुत कहानी द्वारा हमारे समक्ष जीवन और समाज का व्यापक कुरूपता का दिग्दर्शन कराया है। कहानी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है, जिन्हें हम कृष्ण के समान आदर देते हैं वे भी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हैं और जिनको हम सुदामा के समान दीन-हीन तथा सीधे समझकर विश्वास कर लेते हैं वे भी घूसखोरी के अवसर से लाभ उठा कर जाने कितने रहस्य छिपाये बैठे रहते हैं। समाज की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है।

८. देवा की माँ : कमलेश्वर

[कमलेश्वर 'नयी कहानी' के लेखक भी हैं और उसके समर्थक भी समर्थ आलोचक भी। 'नयी कहानी' की नयी उपलब्धियों तथा सम्भावनाओं पर उन्हें अविचल विश्वास है। यह विश्वास उनकी कहानियों में भी मुखर हुआ है। नयी कहानी-कला में जो निखार आया है, जो यथार्थवा दी

तथ्य निरूपण की शैली का विकास हुआ है उसमें कमलेश्वर का भी महत्त्वपूर्ण योग है। संक्षेप में, प्रेमचन्दोत्तर युग के प्रतिनिधि कथाकारों में कमलेश्वर का स्थान है। वे 'किस्सागोई' से दूर रहकर किसी एक तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और वही उनकी कहानी का कथ्य हो जाता है।]

शीर्षक से स्पष्ट है कि कहानी देवा और उसकी माँ के सम्बन्ध में है। कहानी एक गाँव से सम्बन्धित है अतः ग्राम की महिला की कहानी है, यह भी कहा जा सकता है। ग्राम-जीवन की गरीबी, उसमें व्याप्त ईर्ष्या-द्वेष आदि से ऊपर उठकर देव का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर चमकता हुआ प्रकट होता है, वहाँ उसकी माँ वीर नारी के रूप में हमें विस्मित करती है परन्तु इस सबमें कहीं कोई चौंकाने वाली घटना या आचरण का उल्लेख नहीं है—अत्यन्त साधारण और उपेक्षित कहे जाने वाले पात्रों में कितना चरित्रबल हो सकता है, यही पाकर हम तृप्त होते हैं। गाँव से नौकरी पर जाने वाले देवा के पिता का चरित्र निश्चय ही हमें ग्लानि से भर देता है, पर आधुनिक बिखराव के युग में वह भी कोई अनहोनी नहीं है। यही बिखराव मूल समस्या है।

यह एक उच्च कोटि की नयी कहानी है।

(१) **उद्देश्य**—कहानी में उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। देवा की माँ के चरित्र की दृढ़ता और सहनशीलता का चित्रांकन उद्देश्य माना जाय अथवा पति के आचरण से अन्त में होने वाली विरक्ति अथवा उसके स्वभाव की विशेषता अथवा उसका पुत्र वत्सल महामहिम जननीरूप अथवा पतिवंचिता सौभाग्यवती का पुत्र के प्रति अप्रतिम ममत्त्व अथवा गाँवों में प्राचीन मूल्यों के बिखराव का चित्र—किसे उद्देश्य कहा जाय। अच्छा हो कि उद्देश्य की अस्पष्टता में इन सबको उद्देश्य के अन्तर्गत माना जाय। नाम से इतना तो स्पष्ट है कि एक माँ के जीवनक्रम का चित्रण ही उद्देश्य होना चाहिए।

(२) **चरित्र-चित्रण**—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कम कहानियाँ होंगी जो इतनी सूक्ष्मता से पात्रों को रेखांकित करती हों। देवा और उसकी माँ के चरित्रों की विशेषताएँ और विविध जीवन-पक्ष बड़ी सफलता से चित्रित हुए हैं। पति की बेवफाई से व्यथित देवा की माँ और माँ की ममता की छाया में

पलने वाला देवा—दोनों ही पात्र अपने यथार्थ गौरव से पाठक को वशीभूत करते हैं।

(क) **देवा की माँ**—'देवा की माँ' ही उसका नाम बन गया है। इकलौता देवा ही उसका पुत्र है और वह एकमात्र उसकी माँ। उसे आस-पास 'देवा की माँ' कहा भी जाता है। उस माता की अनेक विशेषताएँ हैं जो ग्राम-महिला का सर्वस्व है। वह बहुत-से गुणों और अल्प दोषों से युक्त सामान्य स्त्री है, फिर भी उसकी चारित्रिक विशेषताएँ हमें मुग्ध करती हैं।

देवा का पिता दूसरी पढ़ी-लिखी स्त्री को लेकर रहता है और कहीं स्टेशन मास्टर है पर देवा की माँ गाँव के लोगों की दरी बुनकर कभी-कभी मिलने वाले पैसों से निर्वाह करती है। देवा की माँ और उसके पति के जीवन में जो अन्तर है उस पर उसका ध्यान ही नहीं जाता, वह कभी अपनी सौत से ईर्ष्या नहीं करती, वह पति को भी दोष नहीं देती। वह कहती है—"आदमी में वैसे भी खोट नहीं होती, उसे कुरस्ता तो औरत ही डालती है......अगर उन्होंने यह सब समझ-बूझकर किया होता तो भला यहाँ आते ?......उन्होंने मुझे जाना ही नहीं और अनजान में जो कर बैठे वह तो हो ही गया..."

देवा की माँ पति के साथ न रहने पर भी उसकी घड़ी की ही एक प्रकार से पूजा करती है। अपनी कलाई पर घड़ी रखकर सोने की चेन लटका कर निहारती है—यह उसका प्रतिदिन का जीवन-क्रम बन गया है। बस इतना ही सौभाग्य लिये चल रही है, वह फिर उफ नहीं करती। उसके चरित्र का यह अंश हमें करुणा से भर देता है। घड़ी को उसे मोह लग गया है। एक बार घड़ी की चेन को लेने हेतु उसके पति ने घड़ी माँगी थी परन्तु देवा की माँ ने घड़ी रोक ली और चेन दे देने की बात कही तो पतिदेव को अपना लोभ प्रकट करते न बना और घड़ी तथा उसकी चेन बच गयी। देवा की माँ अपने पति की यह चालाकी भी सीधे स्वभाव के कारण समझ नहीं पाती और पड़ोस की बूढ़ी को उत्तर देती है—"सो नहीं चाची, उन्हें लेना ही होता तो क्या मैं इन्कार कर पाती ? मैंने कहा था कि चाहें तो जंजीर लेते जाये, पर उन्होंने फिर उसकी बात ही नहीं की।"

यह ऐसी मोहनिन्द्रा थी जो प्रत्येक भोली स्त्री में होती है। देवा का पिता उसे पूर्णतः त्याग चुका था, फिर भी झूठी सान्त्वना देते हुए जब वह देवा

के आचरण पर ध्यान रखने की शिक्षा देता है तो देवा की माँ सच मानकर अपनी शक्ति भर देवा की देख-भाल करती और मेहनत-मजूरी करके उसे पढ़ाती है। देवा पढ़-लिखकर भी बेकार घूमता है, फिर भी माँ कुछ नहीं कहती, चुप-चाप अपने चर्खे के काम में लगी रहती है। पास-पड़ोस वालों की दी हुई मैली रुई साफ करना, उससे सूत बनाना, फिर दरी बुन कर देना, यही उसका दैनिक क्रम था जिसमें देवा कभी सहायता नहीं करता था।

देवा की माँ का एक ही दोष देवा को नहीं सुहाता था। वह मैल का बहाना करके लोगों से आध सेर रुई अधिक लेने को झगड़ती थी और अधिक रुई लेकर उससे अपनी दरी बनाकर बेचती थी। इसे भी देवा की माँ की स्थिति में दोष कैसे कहा जाय। उसकी दरिद्रता का यही तक़ाज़ा था और यह करने को वह विवश थी।

पति को लेकर देवा की माँ का मोह तब टूटा जब देवा को जेल जाना पड़ा। देवा के पिता को खबर देकर दो सौ रुपये देकर देवा को छुड़ाने की प्रार्थना लिख भेजी पर उसने कोई ध्यान न दिया। देवा की माँ को प्रथम बार टूटन अनुभव हुई। उसने माँग में सिन्दूर लगाना छोड़ दिया; सिन्दूर की डिबिया तुलसी पर उँडेल दी—उसने अपना सुहाग ही व्यर्थ समझा। उसके के चरित्र का यह अत्यन्त मार्मिक अंश है।

देवा की माँ का दृढ़ निश्चय कि माँग में सिन्दूर नहीं देगी, तब टूटता है जब देवा जेल से लौटकर पिता के मरणासन्न होने की सूचना देता है। पतिव्रता का रूप सामने आता है, जब देवा की माँ प्रातः उठकर सिन्दूर लगाकर तुलसी की जड़ पर माथा टेके देखी जाती है। नारी का महान् रूप प्रत्यक्ष हो उठता है।

फिर भी देवा जब पिता को देखने जाने का प्रस्ताव बड़े आग्रह के साथ करता है तो देवा की माँ साफ इन्कार कर देती है। न वह स्वयं जाना चाहती है और न देवा को ही जाने देती है। पति की प्रवंञ्चना का आघात उसके लिए असह्य था। वह देवा को लेकर उसे सह तो सकती थी पर पति के सामने अपने को छोटा बनाने को तैयार न थी और न ही देवा को ही तुच्छ बनने हेतु जाने देना चाहती थी। देवा स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन्दर्भ में जेल गया था, कोई चोरी तो की न थी, पर पति ने एक चिट्ठी तक न लिखी थी—"महीनों

इन्तजार के बाद भी डाक से कोई चिट्ठी नहीं आयी। वह भीतर कोठरी में जाती, घड़ी हथेली पर रखती तो वही जंजीर हथेली के उस पार झूल जाती। पर कोई आता नहीं। घड़ी की सुइयाँ वक्त बदलती जातीं, पर सूनेपन की घड़ियाँ स्थिर अडिग खड़ी थीं।" इसे देवा की माँ भुला नहीं सकती थी।

पति के प्रति गम्भीर विरक्ति होने पर भी देवा की माँ पति की बीमारी का हाल सुनकर खाना नहीं खा पायी थी। फिर भी उसका सहायक था, उसका धैर्य जिसे उसने चर्खे पर सीखा था :

"प्रत्येक बार टूटने वाले तार ने उसकी खीझ, झुंझलाहट और असन्तोष को जीत लिया था, जैसे इसी में उसका निस्तार था, यह चर्खा ही उसका गूंगा गुरू था।"

(ख) **देवा**—माँ के बाद कहानी में देवा का चरित्र महत्त्व का है। देवा गाँव के उस वातावरण से समझौता नहीं कर पाता जहाँ के "सारे परिवार एक दूसरे से बेतरह जलते थे, कुढ़ते थे; पर वक्त की मार ने उनकी जबानों को कुन्द कर रखा था...यही वजह थी कि जवान होते हुए भी, देवा के बेकार रहने को, लोगों ने बड़ी निस्संग स्वाभाविकता से स्वीकार कर लिया था।" देवा बेकार घूमने से, निठल्ला रहने से अपने भीतर संकोच अनुभव करता था और यही संकोच जहाँ एक ओर उसके चरित्र में छिपे हुए सद्‌गुणों का परिचायक था, वहाँ माँ का एकमात्र सहारा भी था—यही कारण है कि जब देवा को उसकी माँ ने राजनीतिक चक्र में आने पर निःसंकोच देखा तो माँ को दुःख भी हुआ था—"उसे लगता कि देवा कुछ अच्छा कर रहा है, पर यह अपनी तरफ से बेपरवाही भी बुरी है।"

देवा अपने आस-पास के स्वार्थी वातावरण से ऊबता था। "खुद अपनी माँ की बेईमानी चुभती, जो दरियों के लिए रूहड़ लेते वक्त पंसेरी पर आधा सेर ज्यादा लेने की नीयत से, मैल के एवज में साढ़े पाँच सेर के लिए झगड़ती और इस तरह आधा सेर रूई बचा कर आठ-दस दरियों के बाद, एक अपनी दरी बनाकर बेच लेती।"

देवा स्वार्थ की दुनिया से ऊपर उठ कर शास्त्री जी के छापेखाने की बैठक में जाता और वहाँ राजनीतिक चर्चाओं में रस लेता रहता। इसी का परिणाम था कि देवा को एक वर्ष का कारावास झेलना पड़ा। देवा के

चरित्र का यह गुण गाँधी युग की विशेषता रही है और देवा का चरित्र गाँधी-युग के युवक का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण सफल है।

जिस पिता ने उसे और उसकी माँ को त्याग दिया था, विपत्ति में भी सहायता न की थी उसी पिता की बीमारी में देवा को कर्तव्य का ध्यान आता है और वह पिता को देखने जाना चाहता है परन्तु माँ रोक देती है।

(३) **कथानक**—देवा और देवा की माँ के बीच कोई उल्लेखनीय घटना न होने पर भी मानसिक द्वन्द्वों का जो सूक्ष्म चित्रण कमलेश्वर ने किया है उसे ही कथानक कह सकते हैं। नयी कहानी में लम्बे-चौड़े कथानक अथवा घटनाओं के घात-प्रतिघात की आशा भी न करनी चाहिए। लेखक ने बड़ी सुन्दरता से अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण करते हुए मनोवैज्ञानिक रेखांकन किया है, जिसे विविध कथाभागों में विभक्त करके देखा जा सकता है :

(क) **आरम्भ**—माँ का दरी बुन कर अपना और पुत्र का पेट पालना ग्रामीण वातावरण के साथ आरम्भ में ही उपस्थित किया गया है जिसमें देवा के मन न लगने की चर्चा की गयी है। देवा का घूम-घाम कर आना, माँ से संकोच व्यक्त करना, दोनों का साथ-साथ भोजन करना और माँ की सहनशीलता का परिचय आरम्भ का वर्ण्य विषय है।

(ख) **आरोह**—कथानक के आरोह में देवा की माँ के जीवन का वह भाग प्रस्तुत किया गया है जो आरम्भ के कथानक से पहले ही घटित हो चुकता है। पति दूसरी पत्नी के साथ स्टेशन मास्टर के रूप में देवा की माँ से दूर रहता है। एक बार आता भी है तो वह उससे देवा के या अपने विषय में कोई माँग नहीं पेश करती। यही देवा की माँ की विशालता भी है और भोलापन भी—इसी भोलेपन को लेकर पड़ोस की बूढ़ी उसे नासमझ मानती है।

(ग) **चरम स्थिति**—कथानक की तीसरी अवस्था में देवा को राजनीतिक कारण से जेल जाना पड़ता है। देवा की माँ पति से दो सौ रुपये की सहायता कर देवा को छुड़ाने के लिए लिखती है परन्तु उसे निराश होना पड़ता है। तब वह माँग में सिन्दूर भरना छोड़ने का संकल्प करके सिन्दूर की डिबिया तुलसी के बिरवे पर उँड़ेल देती है।

(घ) **अवरोह**—देवा का जेल से लौटना इस चौथे कथा-भाग में आता है। वह माँ से पूर्ववत् भोजन की माँग करता हुआ अपने को साल भर का

भूखा बताता है। वह भोजन करते हुए पिता की बीमारी का हाल बताता है जिससे माँ खाना नहीं खा पाती—दो-चार कौर खाकर और पानी पीकर उठ पड़ती है। सवेरे अँधेरे में ही देवा अपनी माँ को माँग भरे हुए तुलसी के बिरवे पर माथा टेके देखता है—उसे यह दृश्य बड़ा ही मंगलमय लगता है और चुपचाप लौटकर लेट रहता है।

(ङ) **निगति**—अन्त में जब देवा माँ को साथ लेकर पिता के पास चलने का प्रस्ताव करता है तो माँ अपना काम करती हुई जाने से इन्कार करती है और देवा को भी न जाने का आदेश देती है।

देवा की माँ में एक ओर अपने सौभाग्य के प्रति अविचल निष्ठा है तो दूसरी ओर पति के प्रति अटल विरक्ति थी। लेखक ने अन्त में इस तथ्य का बड़ा सुन्दर चित्र दिया है।

(४) **भाषा-शैली**—जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, 'देवा की माँ' कहानी में एक प्रवाह है। उस प्रवाह में यथावसर उर्दू शब्द तथा गाँवों के आंचलिक शब्द भी आते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त है :

"मेहनत-मजूरी का दाम धीरे-धीरे पढ़ता रहता, क्योंकि कोई धन्धा तो था नहीं कि इस हाथ ले, उस हाथ दे। यही क्या कम था कि जरूरत पड़ने पर उसे कहीं-न-कहीं से पैसे मिल ही जाते।" इससे स्पष्ट है कि सभी चलते हुए शब्द ही लिये गये हैं, पर कहीं भी खड़ी-बोली हिन्दी के नियमों का उल्लंघन नहीं है। भाषा मुहावरेदार होने के कारण अधिक समर्थ एवं प्रभावशाली है।

कहानी की प्रचलित इतिहास शैली ही अपनायी गयी है, फिर भी जीवनी का-सा रस मिलता है। इसका कारण यह है कि कमलेश्वर ने देवा और देवा की माँ का चरित्र ही मुख्य रूप से लिया है जिसे सामाजिक और मनोवैज्ञानिक धरातल पर परखने का प्रयास किया है। इससे जीवनी में रेखाचित्र का आनन्द मिश्रित हो जाता है। वस्तुतः कमलेश्वर की कहानी की यही विशेषता है।

(५) **संवाद**—वार्तालापों में घरेलू पुट बड़ी सफलता से निभाया गया है। कहीं भी कृत्रिम ओज का सहारा नहीं लिया गया है। इसलिए कहानी में कहीं भी अतिरंजित भावुकता नहीं आती, सर्वत्र सन्तुलन बना रहता है

फिर भी भावनाओं की व्यंजना में संवाद बड़े समर्थ हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

"मैं नहीं जाऊँगी"—कहते-कहते माँ कमरे की तरफ मुड़ गयी।

"तुम नहीं जाओगी ?" देवा ने जैसे बात समझने के लिए दुहराई।

"नहीं" माँ के स्वर में दृढ़ता थी।

"तो मैं चला जाऊँ ?"—देवा सहसा कह गया।

"नहीं।" माँ ने उसी दृढ़ता से कहा और अपने काम में लग गयी।

इतने से स्पष्ट है कि संवादों के बाद लेखक द्वारा दिये हुए स्पष्टीकरणों से भावना की व्यंजना में बड़ी सहायता मिली है, फिर भी कहीं अयथार्थ या अस्वाभाविक अतिरंजना नहीं है।

उक्त दृष्टियों से 'देवा की माँ' कहानी को हम एक उत्तम कहानी मानते हैं जो 'नयी कहानी' विधा का प्रतिनिधित्व करने में सफल है।

९. सजा : मन्नू भण्डारी

[श्रीमती मन्नू भण्डारी स्वयं श्रेष्ठ महिला कथाकार होने के अतिरिक्त उच्चकोटि के नये कहानीकार श्री राजेन्द्र यादव की पत्नी हैं। आपका जन्म राजस्थान के माणपुरा में सन् १९३१ में हुआ। उनके पिता श्री सुखसम्पत्तिराम भण्डारी अच्छे विद्वान् एवं साहित्यकार हैं जिन्होंने हिन्दी में पारिभाषिक शब्द-कोश की रचना की। श्रीमती भण्डारी दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में हिन्दी शिक्षिका हैं।

श्रीमती भण्डारी नयी कहानी की उन्नायिका हैं परन्तु उनकी कहानियों में उलझन और अटकाव नहीं है। प्रायः नयी कहानियाँ जटिल होती हैं परन्तु श्रीमती भण्डारी में वह जटिलता कहीं नहीं आने पायी है। इनकी कहानी पढ़ कर स्वभावतः एक तुष्टि मिलती है। वे समस्या को समस्या से ग्रहण नहीं करतीं। उन्होंने उपन्यास, नाटक आदि क्षेत्रों में प्रतिभा का परिचय दिया है। आपके कहानी-संग्रह कई हैं—'एक प्लेट सैलाब', 'मैं हार गयी', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' और 'यही सच है' आदि। इनका एक उत्तम नाटक प्रसिद्ध है—'बिना दीवारों के घर'। 'एक इंच मुस्कान' उपन्यास हैं, जो राजेन्द्र यादव के साथ लिखा गया है।]

'सजा' शीर्षक कहानी श्रीमती मन्नू भण्डारी की उत्कृष्ट एवं मार्मिक कहानी है। इसमें एक ऐसे परिवार की कथा है जिसका स्वामी निर्दोष होते हुए भी दण्डित होता है। यद्यपि उसने गबन नहीं किया है, फिर भी उस पर दोषारोपण किया जाता है और सजा मिलती है। निरन्तर चार वर्षों तक फैसले की तारीखें बढ़ती हैं जिससे व्यर्थ ही निरपराध व्यक्ति को कारावास में रहना पड़ता है जबकि फैसले में दोषी होने पर भी प्राय: उतने दिन सजा न भोगनी पड़ती। यह सजा एक व्यक्ति ने नहीं, सारे परिवार ने भोगी। माँ बीमार रहने लगी, मुन्नू मार खाने और अनुत्तीर्ण होते रहने की सजा भोगता रहा—पूरे परिवार में बिखराव आ गया है।

(१) **उद्देश्य**—उद्देश्य की दृष्टि से 'सजा' कहानी अत्यन्त स्पष्ट है। न्याय-व्यवस्था की दूषित प्रणाली पर चोट करना मुख्य उद्देश्य है। चार वर्ष बिना फैसले के मुकदमा चलता रहता है जिससे न्याय की दृष्टि से जो व्यक्ति बाद में निरपराध घोषित हुआ वह गबन के झूठे आरोप में चार वर्ष की सजा भोगने को विवश रहा। उस सजा का परिणाम परिवार के प्रत्येक सदस्य पर पड़ा जिससे एक की नहीं, पूरे निरपराध परिवार की सजा हो गयी। बाद में आरोप झूठा सिद्ध हुआ तो क्या वह हानि लौटायी जा सकती है जो परिवार ने भोगी। न्यायालयों की यह दुर्व्यवस्था अथवा अव्यवस्था समाज पर कलंक है जिससे अनेक निर्दोषों का शोषण होता रहता है।

(२) **शैली**—कहानी की शैली अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। आशा नामक बालिका द्वारा कहलायी हुई पूरी कहानी आत्मकथा-शैली में गूँथी गयी है। बालिका की मनोदशा का स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित हुआ है। 'नयी कहानी' प्राय: आत्मकथा शैली में ही अधिक सफल देखी जाती हैं, क्योंकि इससे भावनाओं का यथार्थ रूप सामने आता है। आशा की भावनाओं का सुन्दर रेखाचित्र खींचा गया है जो प्रत्यक्ष-सा हो उठता और पाठक के मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

(३) **समस्या**—'सजा' कहानी मूलतः समस्याप्रधान है। प्रशासन के साथ न्याय-व्यवस्था की ढिलाई मूल समस्या है जिससे समाज में एक प्रकार का भय

व्याप्त है । निरपराध व्यक्ति भी स्वाभिमान के साथ जीवित नहीं रह सकता; वह झूठे आरोप के भय से खुशामद करने को ही विवश होता सो बात नहीं, वह दूसरों के साथ भ्रष्टाचार में सम्मिलित न होकर अपने चरित्र की रक्षा करना चाहे तो भ्रष्टाचारी अफसरों के षड्यन्त्र से उसे पकड़ा जा सकता है । न्याय चाहे कितना उचित क्यों न हो, वह इतनी देर से मिलता है कि वास्तविक 'सजा' न्याय मिलने से पहले ही भोग ली जाती है—यह अन्धेर है ।

प्रस्तुत कहानी में आशा नामक बालिका के मुख से उस समस्या का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

"पूरे साल पप्पा का यह पहला कार्ड था और हमारे विषय में कुछ नहीं लिखा, जैसे उन्हें मालूम ही न हो कि हम यहाँ हैं ।"

आशा के इस कथन में कितनी व्यथा है और पप्पा के प्रति कितनी ममता। परन्तु पप्पा उसके तथा अन्य बच्चों के लिए लिख कर भी क्या करे, जबकि वह जानता है कि चार वर्ष के कारावास में बच्चे कदाचित् उसे ही भूल गये होंगे—वह अपना स्नेह दबाने को विवश है ।

"हे भगवान् ! तेरे राज में इतना अन्धेर ! मेरे निर्दोष बेटे को दो साल की सजा !"

बूढ़े बाबा के वचन नयी समस्या का संकेत देते हैं—सजा मानली जाती तो सजावार दो साल में छूट जाता पर अपील का फैसला होने में चार वर्ष लग गये।

इस सबसे ऊपर पूरे परिवार को सामाजिक यन्त्रणा सहनी पड़ी, वह असहनीय है । आशा की साथिनें झूठी हमदर्दी दिखाती हुई चुपके से आपस में कहती हैं :

"इतने बड़े लोग भी चोरी करते हैं ? तभी ठाठ थे आशा जी के ।"

पूरे चार साल तक एक परिवार का नरक भोगना और वह भी तब जबकि ख़तावार कोई न हो, निश्चय ही गम्भीर समस्या है ।

(४) **कथावस्तु**—नयी कहानी में कथानक का उतना महत्त्व नहीं रहता । 'सजा' में भी कथानक का अभाव ही सा है । कथा के नाम पर इतना ही है कि एक व्यक्ति, जो किसी कार्यालय में काम करता है, गबन के झूठे आरोप में दो वर्ष की सजा पाता है । अपने सम्बन्धी वकील के प्रयास से वह अपील में

निर्दोष सिद्ध होता है, परन्तु अपील का फैसला चार वर्षों में हो पाता है जो दो वर्ष की सजा से दूना था।

(क) **आरम्भ**—आशा बालिका अपने पप्पा के पत्र से, जो जेल से भेजा गया है, कथा आरम्भ करती है। आशा को ज्ञात हुआ है कि १६ अप्रैल को फैसला होगा, अतः उसने कचहरी जाने का निश्चय कर लिया है। आशा दो दिन से स्कूल नहीं जा सकी क्योंकि वहाँ लड़कियाँ आपस में उसके पप्पा को चोर कहती थीं। उसे अम्मा समझाती है—"अभी···बुरे दिन हैं, जो भी आये, चुपचाप सहन कर लो।'

(ख) **आरोह**—आरम्भ में अन्त के पहले की कथा रखी गयी है, जिसमें नाटकीयता है। परन्तु आरोह में सजा के बाद कान्त मामा के सुयोग्य प्रयासों से अपील होती है। पच्चीस दिनों बाद पप्पा छूटकर आये तो पर घर में किसी से बात नहीं की। वे ऊपर कोठरी बन्द करके बैठे रहे, किसी से मिले नहीं। शाम को कोठरी खोली परन्तु तकिया में मुँह गड़ाये पड़े रहे। ये ऊपर से दूसरे दिन भी नहीं उतरे। घर के सभी लोग रोते रहे। आशा का छोटा भाई मुन्नू को गाँव भेज दिया गया। मकान खाली कर दिया गया, कोठरी दो कोठरी में लोग बसर करते थे। न पंखा था, न कोई आराम। दूसरों की सहायता पर दिन कटने लगे थे। आशा तीन मील पैदल चलकर स्कूल जाती थी। वकीलों के लिए घर के गहने बिक गये। आशा की मनोदशा का परिचय इस वाक्य से मिलता है—"हे भगवान्! सब दुःख दो, पर मेरे पप्पा को पहले जैसा कर दो; वह पहले की ही तरह काम करेंगे तो मैं सब कुछ सह लूंगी।"

(ग) **चरम स्थिति**—कहानी न्याय-व्यवस्था के दोषों के उद्घाटन के उद्देश्य से लिखी गयी है, अतः चरम अवस्था में उसी का दिग्दर्शन कराया जाता है। सुनवायी की पहली तारीख ही छह महीने बाद पड़ती है। घर में अम्मा बहुत बीमार रहने लगीं। बाबा की ५०) मासिक पेन्शन से घर का काम नहीं चलता था। मुन्नू फेल होने लगा था। कर्ज-उधार से घर के खर्चे की गाड़ी ढिलकती थी। आशा मामा के साथ भेज दी गयी। मुन्नू इस संकट में साँवला पड़ गया था। वहाँ उसे मार भी पड़ती थी। आशा भी कॉलेज पढ़ने जाना छोड़ देती है। उसे रात-दिन चाची का काम करना पड़ता था। परिवार का बिखराव संकट की अति पर पहुंच जाता है।

(घ) **अवरोह**—छह-छह महीने या इतने अन्तर से पेशियाँ होती रहीं, फैसला न हो सका। चौथी सुनवायी मार्च में पड़ी। आशा सोचती थी और भगवान् से प्रार्थना करती थी—"भगवान्, देर तो बहुत की, अब अन्धेर मत करना। यों यह देर भी अन्धेर से काम नहीं, पर और अन्धेर मत करना!" सुनवायी फिर बढ़ गयी—"पर धीरज की अवधि खिंचते-खिंचते एक साल तक पहुँच गयी। पिछले मार्च में सुनवायी हुई थी और अब इस साल का अप्रैल है।" अब लगता था कि पप्पा के छूटने पर भी पहले-के-से दिन नहीं आयेंगे। घर की गरीबी, बीमारी पैर तोड़कर बैठी रहेगी। मून्नू की पढ़ाई का बुरा हाल ही चलेगा।

(ङ) **अन्त**—अन्तिम सुनवायी चार वर्ष बाद पड़ती है जिसकी सूचना आरम्भ में दी गयी है। अन्त में उसी को उठाया गया है। उस समय तक सारा परिवार संकट से बेहाल हो चुका होता है। फैसला होता है और रिहाई मिलती है—पप्पा निर्दोष सिद्ध होते हैं। परन्तु परिवार का जीवन बिखर चुका होता है। यही कारण है कि अन्त के वाक्य, जो आशा से कहलाये गये हैं, अत्यन्त करुण हैं :

"मैं दौड़कर पप्पा से चिपट गयी—पप्पा! आप बरी हो गये! सुनते हैं, आप को सजा नहीं हुई······सजा नहीं हुई है आपको! पर पप्पा फिर भी वैसे ही रहे, मानो उन्हें विश्वास ही नहीं हो कि उन्हें सजा नहीं हुई है।"

(५) **चरित्र-चित्रण**—चरित्र-चित्रण पूरे तौर से आशा और पप्पा का ही हुआ है। आशा की ही करुण दशा का चित्र गम्भीरता से उभारा गया है। उसकी व्याकुलता, दयनीयता, पिता के प्रति आदर, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि बड़ी सुन्दरता से सामने आये हैं। घर की विपत्ति का उस पर प्रभाव पड़ता है परन्तु जैसे पूरी लगन के साथ वह सब सहन करती चलती है। चाची के साथ रहते हुए वह पढ़ना छोड़कर दिन-रात काम करती है। वह सबको रोते देखती है; माँ को यक्ष्मा के समान खाँसी में जकड़ी हुई पाती है; बाबा को विपन्न दशा में पाकर दुःखी होती है; मामा कान्त के अपील सम्बन्धी प्रयासों की सराहना करती है, पप्पा उदास हैं पर वह उनकी दशा के सुधार हेतु ईश्वर से प्रार्थना करती है—पर लगता है कि उस बालिका में कहीं भारतीय नारी का गौरव

जागरूक होकर उसे धैर्य देता रहता है। आशा के वाक्य उसकी निष्ठा के सूचक हैं—एक वाक्य-समूह इस प्रकार है :

"ग्रह जब बिगड़ जाते हैं तब क्या नहीं हो जाता ? रामचन्द्रजी ने कौन चोरी की थी, फिर भी चौदह साल का वनवास काटा या नहीं ? पाण्डवों ने क्या किया था, फिर भी अज्ञातवास किया या नहीं ? तब ? जब ग्रह बिगड़ते हैं, तो राजा को भी सब कुछ भोगना पड़ता है।...... शायद बुरे दिनों में ही समझ बढ़ती है।"

पप्पा का उदास चेहरा जो कहानी में आरम्भ से अन्त तक पढ़ा-देखा जाता है, निश्चय ही भारतीय समाज में व्याप्त अन्याय के प्रति विद्रोह जगाता है। हमें एक नये समाज की स्थापना हेतु आह्वान करता है जिसमें अन्याय, लूट-पाट, भ्रष्टाचार, गबन, चोरी कुछ न होंगे, किसी भी मुकदमे का समय पर फैसला होगा। कोई बालक असमय में ही घर के संकट से अविकसित न रहेगा; कोई वृद्ध रोयेगा नहीं। क्या ऐसे समाज की स्थापना होगी ? यही प्रश्न है जो आशा के पप्पा के चेहरे से, उसके चरित्र-चित्रण से हमारे सामने खड़ा होता है।

× × ×

'सजा' कहानी द्वारा श्रीमती मन्नू भण्डारी ने हमारे सामने एक चुनौती रखी है। नयी पीढ़ी को एक लक्ष्य दिया है। उन्होंने समस्या सामने रखकर उसके समाधान हेतु हमें ललकारा है।

१०. दौने की पत्तियाँ : मार्कण्डेय

[नया कहानीकार मूलतः समीक्षक होता है; वह कहानी का तो समालोचक होता ही है, वर्तमान का समीक्षक भी होता है—उसे वर्तमान जीवन से सन्तोष नहीं मिलता, वह उसमें एक प्रकार की घुटन अनुभव करता है। इस दृष्टिकोण को लेकर मार्कण्डेय की कहानी-कला पर विचार करें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि वे वर्तमान काल की ग्राम-समस्याओं का गहराई से अनुभव करते हैं और एक समालोचक के समान उनका विवेचन करते हैं। इस विवेचना में उनका संवेदन प्रधान रहता है; यही

कारण है कि मार्कण्डेय ने कृषक जीवन की व्यथा को परखा है और उसे वाणी दी है। गाँवों के समाज में जो एक जड़ता व्याप्त है, उसके भीतर छिपी हुई आग का सही अन्दाज मार्कण्डेय को है।

युवक कथाकारों में मार्कण्डेय की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ग्रामवासियों की स्थिति में जहाँ सुधार आया है, वहाँ नयी समस्याएँ भी खड़ी हुई हैं। हमारा शासन अभी लोकतन्त्र और समाजवाद दोनों दृष्टियों से शिशु है अतएव गरीबों का शोषण जारी है। मार्कण्डेय जी की अनेक कथाएँ इस तथ्य के आधार पर लिखी गयी हैं।]

(१) **उद्देश्य**—"दौने की पत्तियाँ" छोटे किसानों की समस्या को लेकर लिखी हुई कहानी है जिसमें प्रभावशाली बड़े किसानों द्वारा गरीबों पर किये हुए अन्याय, अफसरों की मनमानी और सरकारी पक्षपात का मार्मिक चित्र खींचा गया है। यह दिखाना कहानी का प्रमुख उद्देश्य है कि ग्रामों में पंच-वर्षीय योजनाओं ने जहाँ सिंचाई आदि के साधन सुलभ किये हैं वहाँ गरीब किसानों की दशा में और गिरावट भी ला दी है। भोला के पास कुल एक बीघा की खेती है वह भी तिवारी की चाल से नहर का शिकार हो जाती है और भोला जैसा भावुक किसान पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है। कहानी संकेत करती है कि योजनाओं का फल सबको मिलना चाहिए। इतना ही नहीं, गरीबों को अधिक लाभान्वित होना चाहिए, तभी लोकतन्त्र और समाजवाद की देश में प्रतिष्ठा होगी, अन्यथा गरीबों का असन्तोष इकट्ठा होकर किसी दिन विप्लव खड़ा कर देगा।

(२) **चरित्र-चित्रण**—उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु कहानी में भोला और उसकी पत्नी गुलाबी का ग्रहजीवन अत्यन्त सौहार्दपूर्ण है। एक बीघा कुल खेत है फिर भी भोला अपने परिश्रम से अनेक प्रकार के साग, फल आदि पैदा कर अपने छोटे परिवार का पालन ठीक से कर लेता है। गाँव के लोग आश्चर्य करते हैं कि झोपड़ी से लेकर खेत तक इतनी सफाई और सुरुचि बनी रहती है तथा भोला के हाथ का स्पर्श पाकर मानो खेती सोना ही उगलने लगती है। भोला बहुत चाहता है कि उसकी पत्नी को साग बेचने न जाना पड़े। वह गुलाबी की इज्जत करता है। उसकी महत्त्वाकांक्षा है कि भले घरों की स्त्रियों की तरह ही गुलाबी भी रहे।

भोला में असीम स्वाभिमान है। उचित सम्मान न पाने से भोला गाँव छोड़ देना चाहता था परन्तु पत्नी ने समझा-बुझाकर रोका था। गाँव में भोला के परिवार पर घोर संकट तब आया जब तिबारी ने अपने प्रभाव से लखनऊ जाकर नहर के इंजीनियर को बुलवाया और सरकारी प्रभाव से भोला के खेत में नहर निकलवा दी जो नहर तिवारी के खेत में से निकलनी थी। तिवारी का प्रभाव इसलिए था कि सिंचाई-मन्त्री उन्हीं की सहायता से चुनाव जीते थे। भोला का पूरा खेत नहर के पेट में समा गया। स्वाभाविक था कि वह विद्रोह से भर जाता और उसने तिवारी को समाप्त कर देने का विचार कर लिया परन्तु यह सोचकर कि तिवारी ने तो अपना खेत ही बचाया है—ऐसा तो सभी करते हैं, सबको करना चाहिए। दोष तिवारी का न होकर इंजीनियर का है, यह सोचकर रात में वह इंजीनियर के आवास में पहुंचता है कि उसका गला घोंट दे परन्तु इंजीनियर की पत्नी को सोते देखकर उसे गुलाबी की याद आ जाती है। उसे लगता है कि दोष इंजीनियर का नहीं है, उसने यह अन्याय सरकारी आदेश से किया है। फिर भी उसका क्रोध और क्षोभ मिटता नहीं। वह कोठी में घुस जाता है तथा पकड़ा जाता है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भोला के चरित्र में भावुकता है और सज्जनोचित न्यायप्रियता है। एक ओर उसमें क्रान्ति तथा विद्रोह के भाव हैं। तो दूसरी ओर करुणा और दया के तत्त्व विद्यमान हैं। एक ओर उसका सर्वस्व समाप्त कर दिया गया है, इसको लेकर हृदय में घोर हलचल है तो दूसरी ओर न्याय का आग्रह है। वह निरपराध पर हाथ नहीं डालना चाहता। उसे तिवारी निर्दोष लगता है और इंजीनियर भी निरपराध जान पड़ता है। उसे सरकार की न्यायहीनता पर रोष है परन्तु वह सरकार का क्या बिगाड़ सकता है—यहीं उसका हृदय कुछ निर्णय नहीं कर पाता है। यही वह बिन्दु है जिस पर भोला रुक जाता है। प्राणिमात्र के प्रति उसके हृदय में दया उमड़ती है। उसे व्यक्तिमात्र निर्दोष लगता है जबकि अपने प्रति किये हुए अन्याय को वह सहन भी कैसे करे, उसका तो जीवन ही जैसे तोड़ दिया गया था।

भोला का चरित्र बहुसंख्यक कृषक समाज का प्रतिनिधि है जिसे आज अन्याय का शिकार होना पड़ता है परन्तु वह मूक होकर सब सहन करता है।

यह आग अन्याय की लंका को कब और कैसे जला देगी, इसका पता नहीं परन्तु यह दशा बहुत समय तक चलेगी, यह भी सम्भव नहीं।

(३) **शीर्षक की सार्थकता**—कहानी का शीर्षक है ''दौने की पत्तियाँ''। दौना सुगन्धित पत्तियों का एक पौधा होता है जो भोला को अत्यन्त प्रिय है। अन्य फूलों के साथ तुलसी और दौना भी भोला की बाड़ी में उगाये जाते हैं। कोई अफसर या बड़ा आदमी आता है तो भोला दौने की पत्तियाँ देना नहीं भूलता। परन्तु जब भोला का खेत नहर के पेट में समा जाता है तो दौने भी समाप्त हो जाते हैं और गुलाबी हाय करके रह जाती है। ''गुलाबी के पास तो अब दौने की पत्तियाँ भी नहीं रहीं'' कहकर कहानीकार संकेत करता है कि रिश्वत में बहुत धन खर्च करने की शक्ति रखने वाले स्याह-सफेद सब करते रहते हैं जबकि गुलाबी का पति भोला निरपराध होते हुए भी चोरी के अपराध में पकड़ा गया है। गुलाबी कुछ भी तो भेंट नहीं कर सकती—दौने की पत्तियाँ भी नहीं—कि उसका पति छूट सके। ''दौने की पत्तियाँ'' गरीब किसान की करुण दशा का चित्र-सा खींच देती हैं। वे किसान की कोमल भावना की प्रतीक हैं। उनका न रहना मानो उस भावना का ही सर्वनाश है और यहीं अत्याचार की गम्भीरता का संकेत मिलता है।

(४) **कथासूत्र**—भोला एक सफल किसान है जिसकी सब प्रशंसा करते हैं। उसके अधिकार में केवल एक बीघा जमीन है जिसमें उसकी झोंपड़ी भी बनी है। उसी में वह फूल-पत्ती उगाता है और साग-सब्जी भी। उसकी स्त्री गुलाबी साग बेच आया करती है। छोटा बच्चा है। इस प्रकार परिवार सुखी है। गाँव में एक तिवारी जी रहते हैं जो धनी तथा प्रभावशाली हैं। चुनाव में एक नेता को सहायता देकर वे जिता देते हैं और वे नेताजी सिंचाई-मन्त्री हैं। गाँव की भलाई के लिए मन्त्री जी ने नहर निकलवाने का फैसला किया, परन्तु नाप-जोख से नहर तिवारी के खेत में होकर निकलनी चाहिए थी। तिवारी के पास बहुत जमीन है फिर भी वे लखनऊ जाकर अपने परिचित सिंचाई-मन्त्री की सहायता से इन्जीनियर को बुलवाकर अपना खेत बचा लेते हैं, फलतः भोला के खेत में से होकर नहर निकलती है जिससे उसका सर्वस्व ही चला जाता है।

भोला अपने खेत के मिट जाने की खबर से इतना बेचैन हुआ कि रात में तिवारी को मार डालना चाहा, परन्तु उसे अपराधी न मानते हुए इन्जीनियर की कोठी पर गया। इन्जीनियर की पत्नी को देखकर उसे बड़ी दया आयी। उसका सुहाग मिटाने का वह साहस न कर सका। उसे इन्जीनियर भी निर्दोष जान पड़ा, सारा दोष सरकार का मानकर वह लौटना चाहता था कि फिर इन्जीनियर पर क्रोध आ गया और वह दुविधा में कोठी में ही रुका रहा जिससे सबेरे पकड़ लिया गया।

जो भोला अपनी ईमानदारी, सच्चाई और मेहनत के लिए प्रसिद्ध था वही चोर की तरह पुलिस द्वारा पकड़ा जाकर बँधा खड़ा है और उसके तथा उसकी पत्नी के देखते-देखते खेत खोद डाला गया।

(५) **भाषा-शैली**—प्रस्तुत कहानी की भाषा में आंचलिकता का निर्वाह किया गया है। सम्पूर्ण कहानी में खड़ी बोली पर अवधी का पुट दिया गया है जिससे भाषा सरल होने के साथ ग्राम-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करती चलती संवादों में पात्र के अनुसार शुद्ध अवधी का भी प्रयोग हुआ है। जैसे, भोला की स्त्री कहती है—"भगवान तोहें बइठै के नाहीं लिखे हैं, का हो।"

कहानी का आरम्भ वातावरण तथा भोला की सुरुचि से किया गया है और सम्पूर्ण कथा इतिहास-शैली में चलती है। कहानी का आरोह भाग भोला के मन्सूबों और कल्पनाओं से बनता है, जिसमें भोला अपने परिवार की उन्नति एवं प्रगति का मानचित्र तैयार करता है और चरम-स्थिति में उसकी बरबादी का चित्र आता है। यहीं कहानी समाप्त हो जाती है। पाठक को सोचने के लिए छोड़ दिया गया है कि आज किसान का जीवन कितनी विडम्बनाओं से घिरा हुआ है जिससे बहुत बड़े विप्लव का पूर्वाभास हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है। सहृदय इस अव्यवस्था से काँप उठता है। यही कहानी की सफलता है।

११. आया : भैरव प्रसाद गुप्त

[भैरव प्रसाद गुप्त प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार हैं। वे नये युग के कथाकार हैं जिन्हें युग-जीवन की सच्ची पकड़ है। परन्तु उन्हें 'नयी कहानी' के बन्धनों से मुक्त कहानीकार कहना चाहिए। वे

कोरे यथार्थवाद को लेकर नहीं चलते जिसमें चरित्र का आदर्श तत्त्व सर्वथा शून्य हो। यही कारण है कि उनकी कला को वादों के बन्धन से मुक्त कहा जा सकता है। गुप्त जी सच्चे अर्थों में भारतीय जीवन के चित्रकार हैं। भारत का सामान्य नागरिक निष्ठावान् होता है, वह गरीबी और ईमानदारी का समन्वय करके जीना जानता है, यह दृष्टिकोण गुप्त जी की कला का मूल है। उनकी कथाओं में नयेपन का झूठा आरोप या दुराग्रह नहीं है, इसीलिए 'नयी कहानी' में प्रायः मिलने वाली जटिलता और दुरूहता उनकी रचनाओं में नहीं मिलती। वे एक तथ्य और एक संवेदना को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल देखे जाते हैं।]

'आया' शीर्षक कहानी भैरव प्रसाद गुप्तजी की अत्यन्त आकर्षक कहानी है। आया का चरित्र ही आकर्षण-बिन्दु है, इस दृष्टि से इसे चरित्र-प्रधान कहानी कह सकते हैं। सम्मानित नौकरानी के रूप में आया का आचरण घर की मालकिन का-सा लगता है जिसके प्रभाव में गृहस्वामी बालक के समान प्रतीत होता है परन्तु एक बार उसके ऊपर चोरी का-सा सन्देह होता है जिससे पाठक को स्वभावतः झटका लगता है। यह झटका स्थायी नहीं रहता क्योंकि आया की सच्चाई अन्त में उसके प्रति हमारा आदर और तीव्र कर देती है। अकिंचन स्त्री की ईमानदारी हमारे हृदय में जातीय गौरव का पुलक भर देती है और कहानीकार की यह महती सफलता है।

(१) **उद्देश्य**—कहानी का उद्देश्य एक ऐसी निर्धन स्त्री का और उसके परिवार का चित्र देना है जो गरीबी के भार से दब कर भी ईमानदार है। भारतीय परम्परा में जड़ जमाये हुए इसी निष्ठा और इसी सच्चाई के बल पर भारत आज भी सम्मान का भागी है। भारत के निर्धन वर्ग में विद्रोह की अपेक्षा ईमानदारी अधिक है, इस तथ्य का प्रतिनिधित्त्व आया को देकर कहानी लिखी गयी है जो हमारे लिए प्रेरणादायक है। गरीबी के दबाव से ईमानदारी में भी कमी आ जाती है, यह भी कहानी का उद्देश्य है।

(२) **कथानक**—नयी प्रवृत्तियों के अनुसार लिखी हुई प्रस्तुत कहानी कथानक में विस्तार नहीं रखती। केवल दो-एक घटनाओं के आधार पर ही आवश्यक तथ्य का चित्र उपस्थित किया गया है। वे घटनाएँ भी छोटी हैं और

अत्यन्त प्रभावशाली हैं। आया का पहले सीमातीत ईमानदार और विश्वसनीय दिखना, फिर गृहस्वामी के रुपये अपने घर में खर्च कर लेना और चुप रहना, ऐसे तथ्य हैं जो हमें आश्चर्य में डालकर आया के प्रति उत्पन्न हुए आदरभाव को चोट पहुँचाते हैं, परन्तु अन्त में जब आया अपने द्वारा व्यय किये हुए रुपयों को ऋण रूप में स्वीकार कर लेती है और वह भी गृहस्वामी द्वारा बिना कुछ प्रश्न किये हुए, तो आया के ऊपर हमारा आदर दूना हो जाता है; हम सम-वेदना से भरकर समाज के उस गलीज की ओर दृष्टि डालते हैं जिसे वर्ण-विषमता के नाम से पुकारा जाता है। सारा समाज गरीब और अमीर में इस प्रकार बँट गया है कि गरीब ईमानदार होकर भी कभी-कभी अपने संकल्प से गिरता हुआ देखा जाता है। आश्चर्य तो यह है कि तब भी हमारे जातीय जीवन में गरीबों ने ईमानदारी बचाये रखी है। इस तथ्य का उद्‌घाटन करने में कहानी के विविध भाग संजोये गये हैं :

(क) **आरम्भ**—कहानी का श्रीगणेश वहाँ से होता है जहाँ हम देखते हैं कि आया ने अपने खरेपन की धाक बाबूजी पर जमाली है। वह कभी-कभी दो पैसे के पान अवश्य खा लेती है और माँगने पर चुटकी में पान दिखाकर निःसंकोच कह देती है—"इतने की चोरिन तो मैं हमेशा रहूँगी, बाबूजी !"

यह आरम्भ इतना प्रभावशाली है कि इसके आगे किसी घटना का संकेत पाना असम्भव है जिसे आरोह में स्पष्ट किया गया है।

(ख) **आरोह**—आगे चलकर हम देखते हैं कि आया घर की मालकिन ही नहीं, बाबूजी की माता का स्थान ले लेती है। बाबूजी घर के खर्चे और प्रबन्ध से निश्चिन्त हो जाते हैं। आया घर को खूब साफ-सुथरा तो रखती ही है, स्वामी की रुचि के अनुसार गमले आदि भी सजाकर रखती रहती है। "इतनी सस्ती और कारामद माँ किस जवान और कमाऊ पूत को नसीब हुई है ?" यह वाक्य ही आया की तत्परता और ईमानदारी का परिचय देता है। कथा के इस आरोह भाग में भी हमें कोई सन्देह नहीं होता कि आया में कहीं कोई कमी हो सकती है अतः जिज्ञासा और भी तीव्र हो जाती है। हम देखते हैं कि बाबूजी स्वयं आया के लिए पान लाकर भेंट करने लगे हैं जिससे आया के प्रति उनके सम्मान का पता चलता है।

(ग) **चरम स्थिति**—कथा का यह भाग अन्तर्द्वन्द्वों से पूर्ण है। आया पर से विश्वास हटने लगता है और सन्देह जन्म लेता है। अब बाबूजी की तनख़ाह के पैसे महीना पूरा होने के बहुत पहले ही आया के हाथों समाप्त हो जाते हैं—स्पष्ट है कि आया चुराकर अपने ऊपर खर्च कर लेती होगी। जो पान उसे प्राणों से प्रिय थे, अब उसके होठों पर उनकी लाली नहीं दिखती। बाबूजी पान लाकर देते हैं तो आया पहले की तरह उत्साहित नहीं होती। कहीं कुछ गोलमाल है, पर बात क्या है, इसका कोई संकेत नहीं मिलता।

(घ) **अवरोह**—कहानी का उतार बहुत विस्तृत है। उसमें हम रहस्य का उद्घाटन पाते हैं जब आया के कई घिनौने बच्चे बाबूजी का खाना-पीना हराम कर देते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि आया के पति की नौकरी छूट जाने से जो हैरानी पैदा हुई, उसी का परिणाम है कि आया पैसे-रुपये चुराकर अपने परिवार पर खर्च करने लगी थी। यह तब तो और भी स्पष्ट हो जाता जब वह अपने पति को बुलाकर बाबूजी से नौकरी दिलाने की बात कहती है। बाबूजी की सहायता से आया का पति और बड़ा लड़का काम पर लग जाते हैं। अब आया फिर पहले की तरह पानों से ओठ रंगे रहने लगती है और बाबूजी का खर्च पूर्ववत् चलने लगता है, कहीं कोई कमी नहीं आती—आया फिर ईमानदार माता का काम पूरा करने लगती है।

(ङ) **अन्त**—कहानी का उपसंहार अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। जब बाबूजी महीने के अखीर में कहते हैं—"आया, अब की तुम्हारी तनख़ाह देर से मिलेगी, तो आया पैर के अँगूठे से फर्श कुरेदती हुई कहती है—बाबूजी, अभी तो आपके ही मेरे ऊपर पचासेक रुपये हैं।

यही वह अवसर है जब बाबूजी आश्चर्य से चीख उठते हैं और आया उनके पैर पकड़ कर रो पड़ती है। सहृदय पाठक भी इस ईमानदारी की पराकाष्ठा से मन्त्रमुग्ध रह जाता है। अब तक आया के बारे में जो अनुचित धारणा बनी थी वह पश्चात्ताप का रूप ले लेती है।

कथानक को इस प्रकार क्रमबद्ध किया गया है कि अन्त में रहस्य का पता पाकर पाठक चकित रह जाता है। सम्पूर्ण कहानी हमारा विस्मय और हमारी जिज्ञासा को उभारते ही रहते हैं। वस्तुतः कथाक्रम की दृष्टि से कहानी पूर्ण सफल है।

(३) **चरित्र-चित्रण**—'आया' शीर्षक कहानी में 'आया' का ही चरित्र पूरी तत्परता एवं कलात्मकता के साथ चित्रित किया गया है। यों भी कह सकते हैं कि उसी एक चरित्र को प्रस्तुत करने हेतु सम्पूर्ण कहानी गूँथी गयी है। आया के चरित्र में उतार-चढ़ाव पाये जाते हैं जिनके मूल में उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ हैं। लेखक का मूल मन्तव्य है कि ईमानदार या बेईमान व्यक्ति नहीं होता—वह वैसा ही बनने को विवश होता है जैसा कि उसकी आर्थिक परिस्थितियों में सम्भव होता है। आर्थिक स्थिति के तीन अध्यायों में आया के तीन रूप स्पष्ट देखे जा सकते हैं :

(क) सर्वप्रथम आया एक हँसमुख कर्मचारिणी के रूप में हमारे सामने आती है। उसका पति एक अंग्रेज के यहाँ नौकर है, अतः घर में कोई ऐसी कमी नहीं है कि ईमानदारी से जीवनयापन असम्भव न हो। आया ११ बच्चों की जन्मदात्री रही है और अपने दिवंगत बच्चों की ममता में शोकग्रस्त होकर दुर्बल हो गयी है। उसे पान खाने का एक ही शौक है और उसके लिए कभी क्या सदैव दो-चार पैसे बाबूजी के उन रुपयों में से निकाल लेती है जो उसे बाजार के लिए दिये जाते हैं परन्तु उन पैसों की वह चोरी कभी नहीं करती—साफ बता देती है। इसी ईमानदारी का परिणाम है कि बाबूजी निश्चिन्त हैं और उसे माँ के समान आदर देते हैं। स्वयं बाबूजी कभी-कभी पान लाकर मातृ-समान आया को भेंट करते हैं जिन्हें वह उत्साह के साथ लेती है।

(ख) आया के चरित्र का दूसरा दुःखपूर्ण भाग आता है, जब उसका पति कमाई से रहित हो जाता है। जहाँ वह नौकर था वह अंग्रेज इंगलैण्ड चला जाता है। उसके तीनों बच्चों की भी नौकरी छूट जाती है। घर में फ़ाके होने लगते हैं। यह वह अवस्था थी जिसमें आया के सामने एक ही चारा था कि बाबूजी के रुपयों में से चुपचाप खर्च करके बच्चों का पेट पाले। अब वह पान छोड़ देती है। बाबूजी जब कभी पान देते हैं तो रूखे उदास मन से ले लेती है। अब आया अपने काम में भी मुस्तैद नहीं रह गयी है। घर की ठीक सफाई नहीं होती, बाबूजी का खर्चा पूरा नहीं पड़ता—क्योंकि पैसे आया अपने यहाँ खर्च करती है, समय पर बाबूजी का प्रबन्ध करने में भी आया शिथिल रहती है। उस पर से विश्वास हट जाता है। एक दिन जब वह अपने एक बच्चे को और फिर लगातार सभी बच्चों को बाबूजी के यहाँ लाने लगी तो उन्हें क्रोध

आना भी स्वाभाविक था पर आया की विवशता पर अभी हमारा ध्यान नहीं जाता। यदि उस विवशता को मान भी लिया जाय तो भी अपनी थाली देकर औरों का पेट कौन भरता है। यह वह दयनीय दशा है जिसमें आया को ईमानदार कह पाना भी कठिन हो रहा है जबकि वह बदली नहीं है, उसकी परिस्थितियाँ बदली हैं, अतः वह लाचार है।

(ग) आया के चरित्र की तीसरी अवस्था उसकी परिस्थितियों के तीसरे मोड़ की है जब बाबूजी की सहायता से उसके पति पुत्र काम से लग जाते हैं। इन बदली परिस्थितियों में आया फिर यथापूर्व ईमानदार हो जाती है—जब वह बेईमान दिखती थी तब भी उसकी ईमानदारी और निष्ठा की मूल चेतना में कोई अन्तर नहीं आया था, पर उसे देखता कौन था। जब आया पचास रुपयों का ऋण स्वीकृत कर अपनी बीती हुई दीनता का संकेत किया तब उसकी सच्चाई का स्वरूप स्पष्ट हुआ।

इस प्रकार आर्थिक परिस्थितियों के दबाव से मनुष्य के चरित्र के मोड़ों का चित्र देने वाली कहानी आया के चरित्र-चित्रण में पूर्ण सफल रही है।

(४) **शैली**—भैरव प्रसाद जी को यद्यपि 'नयी कहानी' के खाँचे में कसना अपेक्षित नहीं है फिर भी 'आया' कहानी अपने गठन में 'नयी कहानी' ही जान पड़ती है। यही कारण है कि उसकी रचना-शैली आत्मप्रधान है, अर्थात् 'मैं' शैली द्वारा बाबूजी के माध्यम से आया का चरित्र प्रस्तुत कराया गया है। लेखक ने बड़े कौशल से अपने को ही बाबूजी की भूमिका में रख लिया है और स्वयं ही इस प्रकार कहानी कही है, जैसे उनके ही जीवन की यह घटना रही हो। शैली की दृष्टि से भी कहानी में पूरा कसाव है कहीं शिथिलता नहीं आने पायी है। कहानी को इसीलिए भाव-प्रधान माना जायगा कि लेखक आया सम्बन्धी अपनी अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है और बाबूजी की भावनाओं के छोटे-बड़े अनेक मोड़ों को यथार्थ रूप में बड़ी आत्मीयता के साथ चित्रित करता है। आदि से अन्त तक कहानी का निर्वाह बड़ी सफलता से हुआ है। अनुभूतियों की विविध मणियों को एक ही चरित्र के धागे पिरोकर कहानी की सुन्दर माला तैयार की गयी है।

(५) **प्रगतिशील तत्त्व**—कहानी में चरित्रप्रधानता के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण भी संलग्न है। कहानी वस्तुतः हमारी अर्थ-व्यवस्था

पर तीव्र व्यंग्य करती हुई. बेकारी की समस्या की ओर दृष्टि-क्षेप करती है। यह देश की ऐसी परिस्थिति है जिसमें ईमानदारी का ढोंग किया जा सकता है पर उसकी दृढ़ता के साथ रक्षा करना असम्भव हो रहा है। पहली बात तो यही है कि आया की-सी सच्चाई सब में नहीं हो सकती और यदि हो भी तो दरिद्रता और भुखमरी के दबाव में समाप्त होने को विवश हो जाती है। क्या आया भी सच्चाई की रक्षा कर पाती, यदि उसे बेकारी से छुटकारा न दिलाया गया होता ? यही वह प्रश्न है जो स्वतन्त्र भारत के समक्ष चुनौती बनकर भयानक रूप में खड़ा है—इसका समाधान करके ही हम किसी राष्ट्रीय चरित्र की महान् कल्पना कर सकते हैं। इसके लिए अर्थनीति में बड़े परिवर्तन अपेक्षित हैं जिनके लिए सरकार जिम्मेदार है। लेखक का यह लक्ष्य कहानी में बड़ी ही सफलता से व्यक्त हुआ है।

× × ×

उक्त सभी दृष्टियों से कहानीकार पूर्ण सफल हुआ है। आया के चित्रण से जो प्रश्न-चिह्न उपस्थित किया गया है, वह हमारी योजनाओं को विफल सिद्ध करता है। कहानी का यही मूल कथ्य है जिस पर ध्यान केन्द्रित करने के लक्ष्य को लेकर कहानी की प्रशंसा ही करते बनती है।